समयसार :
निश्चय और व्यवहार की यात्रा

युवाचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती प्रकाशन

मुख्य-संपादक
मुनि दुलहराज

संपादक
मुनि धनंजय कुमार

प्रकाशक

© जैन विश्व भारती

I.S.B. No. 81-7195-015-9

द्वितीय संस्करण — अगस्त, १९९२

मूल्य : २५ रुपए

मुद्रक : जे.के. ऑफसेट प्रिन्टर्स, नागलोई, दिल्ली-४१

प्रस्तुति

चेतना के अनेक स्तर हैं। मोह से प्रभावित चेतना पदार्थ में आसक्त होती है। आसक्ति चेतना के एक स्तर का निर्माण करती है। उसका नाम है— बहिर्‌आत्मा, बाह्य विषयों में उलझी हुई चेतना। मोह का विलय या उपशमन चेतना के दृष्टिपक्षीय स्तर का निर्माण करता है। उसका नाम है अन्तर्‌- आत्मा। चेतना की गति बदलती है, वह बाहर से भीतर की ओर हो जाती है। मोह के विलय या उपशमन की मात्रा और अधिक बढ़ती है तब चेतना के चरित्रपक्षीय स्तर का निर्माण होता है। उसका नाम है परम-आत्मा। यह कथनी और करनी की दूरी की समाप्ति का आरंभ-बिन्दु है।

समय का अर्थ है आत्मा। उसका सार है— बहिरात्मा का अतिक्रमण कर अन्तरात्मा और परमात्मा की दिशा में प्रस्थान करना। यह प्रस्थान ही अध्यात्म है। आचार्य कुन्दकुन्द अध्यात्म के महान् प्रवक्ता और मार्गदर्शक हैं। उनका मार्गदर्शन "समयसार" में प्रतिबिम्बित या प्रतिध्वनित हो रहा है।

समयसार अध्यात्म का प्रतिनिधि ग्रंथ है। विश्व साहित्य में अध्यात्म विषयक जो ग्रन्थ हैं, उनमें प्रथम पंक्ति के ग्रंथों में से एक है। इसकी गहराइयों तक पहुंचना सरल नहीं है। कठिन को सरल बनाना अपेक्षित है। पुरानी भाषा और परिभाषा को नया संदर्भ मिले तो वह सहज सुगम्य या सुपाच्य हो सकती है। प्रस्तुत कृति में इसका एक निदर्शन मिलेगा।

ईस्वी सन् १९८७ में एलाचार्य विद्यानंद जी अणुव्रत भवन में आए। वे दिल्ली से प्रस्थान कर दक्षिण की यात्रा के लिए जा रहे थे। आचार्य श्री के साथ वार्तालाप हो रहा था। उन्होंने कहा— आचार्य कुन्दकुन्द की द्विसहस्राब्दी मना रहे हैं। उस समय समयसार पर कुछ लिखा जाए। उनकी इस भावना को आचार्यवर ने स्वीकार किया। उस स्वीकृति की निष्पत्ति है प्रस्तुत कृति — **समयसार : निश्चय और व्यवहार की यात्रा।**

प्रस्तुत कृति में समयसार की क्रमबद्ध व्याख्या नहीं है। उसके कुछेक पद्यों के हृदय का स्पर्श किया गया है। आज का पाठक भाषा और परिभाषा की जटिलता से मुक्त रहकर जानना चाहता है। परिभाषा से मुक्त भाव की अभिव्यक्ति के लिए व्यापक दृष्टिकोण, उदार भावना और गहरी डुबकी— ये सब आवश्यक हैं।

बहुत विद्वानों ने आचार्य कुन्दकुन्द को निश्चय नय की सीमा में आबद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनका दृष्टिकोण संकुचित है, यह कहना मैं नहीं चाहता किन्तु अनेकान्त की सीमा का अतिक्रमण कर रहा है, यह कहने मे मुझे कोई कठिनाई नहीं होती। आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चय और व्यवहार, दोनों नयों को उनकी अपनी अपनी सीमा में अवकाश दिया है। केवल सूक्ष्म पर्याय ही सत्य नहीं है, स्थूल पर्याय भी सत्य है। हमारा व्यवहार स्थूल पर्यायों के आधार पर आकलित होता है। क्या सत्य के एक पहलू को नकार कर असत्य को निमंत्रण नहीं दिया जा रहा है? इस विषय पर विमर्श आवश्यक है। प्रस्तुत कृति में कुछ बिन्दुओं पर सहज- सरल विमर्श हुआ है। यह चिन्तन के नए बिन्दुओं को रेखा में रूपायित करने का एक छोटा-सा प्रयत्न है। यह प्रयत्न कभी विशद और व्यापक रूप ले सकता है।

मुनि दुलहराज जी साहित्य संपादन के कार्य में प्रारंभ से ही लगे हुए हैं। वे इस कार्य में दक्ष हैं। प्रस्तुत पुस्तक के संपादन में मुनि धनंजय कुमार ने निष्ठापूर्ण श्रम किया है।

९ अप्रैल ९१

ग्रीन हाऊस, सी- स्कीम, जयपुर

युवाचार्य महाप्रज्ञ

संपादकीय

- समय का मूल्य आंकें।

  समयसार के संदर्भ में यह घोष
  उभार रहा है एक नया उद्घोष
  समय का एक अर्थ है आत्मा
  अपने अस्तित्व की जीवन्त प्रतिमा
  आत्मा का मूल्य आंकें
  अपने अस्तित्व/चैतन्य को जानें
  समय की सार्थकता है समय के मूल्यांकन में
  जीवन का सार है उस ओर प्रस्थान में
  यह सचाई बने व्यक्ति का जीवन- दर्शन
  इस हेतु प्रस्तुत है महाप्रज्ञ का चिन्तन-मंथन।

- चैतन्य के प्रति बढ़ती उपेक्षा के वातावरण में
  पदार्थ की बढ़ती अपेक्षा और आकर्षण में
  चैतन्य के मूल्य को प्रखरता से प्रस्तुत करने वाला यह ग्रन्थ
  जिसके रचनाकार हैं चैतन्य के प्रति समर्पित निर्ग्रंथ।

- यह सच है—
  व्यवहार जरूरी है जीवन यात्रा को चलाने के लिए
  सामाजिकता एवं सामाजिक संबंधों को निभाने के लिए

  इससे भी बड़ा सच है—
  निश्चय है व्यवहार को पवित्र बनाए रखने के लिए
  सामाजिक संबंधों के सफल समायोजन के लिए

- निश्चय यदि दर्पण है तो उसका प्रतिबिम्ब है व्यवहार
  निश्चय यदि आदर्श है तो उसकी कसौटी है व्यवहार
  प्रतिबिम्ब और कसौटी का जो मूल्य है,
  आदर्श और दर्पण का उससे भी अधिक मूल्य है
  हमारे लिए वह निश्चय उपयोगी है, जो व्यवहार में प्रतिबिम्बित है

वह व्यवहार हमारे लिए आदर्श है, जो निश्चय से अनुप्राणित है
यदि जीना है शान्त, पवित्र एवं सफल जीवन
उसका रहस्य सूत्र है—
निश्चय और व्यवहार का संतुलन

- समस्या यह है —
  हम व्यवहार की दुनिया से अतिपरिचित हैं
  निश्चय की दुनिया से सर्वथा अपरिचित हैं
  समयसार : व्यवहार और निश्चय की यात्रा एक समाधान है
  व्यवहार और निश्चय के संतुलन का अनुपम निधान है
- संदेश यही है—
  व्यवहार की दुनिया में निश्चय ओझल न हो जाए
  निश्चय में रहें, व्यवहार को जीएं
  पदार्थ में चेतना अटक न जाए
  पदार्थातीत सत्य का साक्षात् पाएं
- आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी समारोह का प्रसंग
  आचार्य श्री विद्यानंद का चिन्तन
  आचार्य श्री तुलसी का निर्णय
  युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ द्वारा उसकी क्रियान्विति।

प्रस्तुत है—

समयसार : निश्चय और व्यवहार की यात्रा

११ अप्रैल १९९१
ग्रीन हाऊस, सी-स्कीम — मुनि धनंजय कुमार
जयपुर

अनुक्रम

संकलिका 1

- अप्पाणमयाणंतो, अणप्पय चावि सो अयाणंतो।
  कह होदि सम्मदिट्ठि, जीवाजीवे अयाणतो।। (समयसार २०२)
- जइ जिणमय पवज्जह, मा ववहारणिच्छय मुयह।
  ववहारस्स उच्छेये, नित्थुच्छेवो हवई वस्सं।।
- जो जीवे वि न याणाइ, अजीवे वि न याणई।
  जीवाजीवे अयाणतो, कह सो नाहिइ सजम।।
- अत्यन्त भावयित्वा विरतिमविरत कर्मणस्तत्फलाच्च,
  प्रस्पष्ट नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसचेतनाया·।
  पूर्णं कृत्वा स्वभाव स्वरसपरिगत ज्ञानमचेतनां स्वा,
  सानंद नाटयत· प्रशमरसमित· सर्वकाल पिबतु।।
- भावयेद् भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
  तावद् याअद् पराच्च्युत्वा, ज्ञान ज्ञाने प्रतिष्ठिते।।
  (समयसार कलश – २३३, १३०)
- आचार्य कुन्दकुन्द · अध्यात्म की व्याख्या
- निश्चय पर बल क्यो?
- अपराविद्या पराविद्या
- तीन चेतनाए
  ज्ञान चेतना, कर्म चेतना, कर्मफल चेतना।
- पहला निष्कर्ष : सम्यग् दृष्टिकोण का विकास

अपने आपको जानें

जब प्रेक्षाध्यान का प्रयोग प्रारंभ होता है, तब यह स्वर गूंज उठता है 'संपिक्खए अप्पगमप्पएणं' – अपने द्वारा अपने को देखो। इस दृष्टि का निर्माण किए बिना प्रेक्षाध्यान की कोई भी बात समझ में नहीं आती। प्रेक्षाध्यान का एक सम्यग् दर्शन है और वह है अपने आपको जानना। पदार्थ को जानने वाले बहुत हैं। प्रत्येक व्यक्ति पदार्थ को जानता है किन्तु अपने आपको जानने वाले लोग बहुत कम हैं। अपने आपको न जानने का मतलब है अनेक समस्याओं को निमंत्रण।

भारतीय अध्यात्म की परम्परा मे ऐसे बहुत आचार्य हुए हैं, जिन्होंने अध्यात्म का स्वर उदात्त किया। एक महत्त्वपूर्ण शब्द है—अध्यात्म, आत्मा के भीतर तक पहुंच जाना, बाहर से भीतर आ जाना। बाहर रहना भौतिकता है और भीतर आना अध्यात्म है। बहुत अन्तर है बाहर और अन्दर मे।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

एक भिखारी घूम रहा था। वह घूमते-घूमते शहर के बाहर पहुचा। शहर के बाहर एक मठ था। उसने देखा – मठ के पास एक पीले रग की चीज चमक रही है। पीले रंग का आकर्षण और चमक का आकर्षण—दोनों आकर्षण जागे। उसे लगा—यह सोना होना चाहिए। जहां सोने की बात आती है, वहा सब कुछ आ जाता है। इससे बड़ा दुनियां में कोई आकर्षण नहीं है। उसने उधर पैर बढ़ाए तो सोने का कटोरा मिला। उसने सोचा—ऐसा हो नहीं सकता कि कोई सोने का कटोरा ऐसे ही फैंक दे। सामान्य पदार्थ को फैंका जा सकता है किन्तु सोने को भी फैंका जा सकता है—यह बात उसकी समझ से परे थी। वह असमंजस में पड़ गया। उसने उस कटोरे को उठाया और देखा —वह सोने का ही कटोरा था। भिखारी विस्मय में पड गया। उसके मन में एक प्रश्न उभर आया – बात क्या है? सोने का था तो फैंका कैसे? और फैंका है तो सोने का कैसे?

आकर्षण का कारण

तब तक सोने का आकर्षण रहता है जब तक हम बाहर देखते हैं। एक है बाहर की दुनिया और एक है भीतर की दुनियां। भीतरी दुनियां में बाहरी आकर्षण समाप्त हो जाते हैं। बाहरी दुनिया में आत्माभिमुखता का कोई साधन नहीं है, जो बाहर के आकर्षण को समाप्त कर सके। मोह और मूर्च्छा को कम करने का कोई उपाय बाहरी दुनियां में नहीं है। उसे कम करने का एकमात्र उपाय है अपनी आत्मा के भीतर चले जाना। जो व्यक्ति अपनी आत्मा के भीतर गए हैं, उनका बाह्य आकर्षण छूटा है।

अध्यात्म का महत्त्वपूर्ण शब्द है—सम्यग्दृष्टि। सम्यग् दर्शन की उपलब्धि का सूत्र है आत्माभिमुखी होना। आत्मा को जाने बिना, अध्यात्म में प्रवेश किए बिना कोई भी व्यक्ति सम्यग्दृष्टि नहीं बन सकता। जब तक आत्मा का ज्ञान नहीं होगा, तब तक मिथ्या दृष्टिकोण बना रहेगा।

सम्यग्दृष्टि कौन?

समयसार में कहा गया—

अप्पाणमयाणतो, अणप्पय चावि सो अयाणंतो ।
कह होदि सम्मदिट्ठि, जीवाजीवे अयाणंतो ।।

जो व्यक्ति आत्मा को नहीं जानता, अनात्मा को नहीं जानता, वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है।

दशवैकालिक सूत्र में भी ऐसा ही एक पद्य मिलता है—

जो जीवे वि न याणाइ, अजीवे वि न याणई ।
जीवाजीवे अयाणंतो, कहं सो नाहिइ संजमं ।।

जो जीव को नहीं जानता, अजीव को नहीं जानता, जीव और अजीव— दोनों को नहीं जानता, वह सयम को कैसे जानेगा?

जीव और अजीव को न जानना, आत्मा और अनात्मा को न जानना केवल बहिर्मुखी होना है। बहिर्मुखी होने का अर्थ है भौतिक जीवन जीना। भौतिक और आध्यात्मिक व्यक्ति की परिभाषा है—जो व्यक्ति पदार्थ में मूर्च्छित रहता है, उसका दृष्टिकोण भौतिक होता है और जो व्यक्ति आत्मानुभूति में जीता है, उसका दृष्टिकोण आध्यात्मिक होता है। ऐसा नहीं है कि आध्यात्मिक व्यक्ति पदार्थ का भोग नहीं करता।

वह पदार्थ को काम में लेता है पर उसमें आसक्त नहीं होता, उसमें अटका हुआ नहीं रहता। उसकी चेतना पदार्थ से परे है।

जो व्यक्ति आत्मा को नहीं जानता, वह केवल पदार्थ में ही निमग्न हो जाता है। वह मात्र भौतिक व्यक्ति होता है, भौतिक दृष्टिवाला व्यक्ति होता है।

मूल बीमारी है राग

जिसके मन में थोड़ा-सा विराग पैदा हुआ है, जो राग की दुनियां से कटकर विराग की दुनियां में जाना चाहता है, उसके लिए आचार्य कुन्दकुन्द ने अध्यात्म का जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, वह बहुत मूल्यवान् है। वह केवल उसके लिए ही नहीं है, राग की दुनियां में जीने वालों के लिए भी वह बहुत मूल्यवान् है। आज राग की बहुलता ने अनेक मानसिक बीमारियों को जन्म दिया है। आयुर्वेद में अनेक मानसिक बीमारियों का हेतु राग को माना गया है। इसका अर्थ है—मानसिक बीमारी के पीछे काम, भय, क्रोध आदि-आदि हेतु हैं। यह सारा राग का परिवार है। मूलतः बीमारी एक ही है— राग। राग है तो द्वेष है। प्रियता है तो किसी के प्रति अप्रियता का होना भी जरूरी है। अप्रिय हुए बिना किसी के प्रति प्रिय का भाव हो नहीं सकता। राग है तो द्वेष भी आएगा। बीमारी की जड़ है राग। राग में जीने वाले व्यक्तियों के लिए अध्यात्म की बात बहुत जरूरी है।

अध्यात्म का महत्वपूर्ण सूत्र : भेद-विज्ञान

आचार्य कुन्दकुन्द ने अध्यात्म की व्याख्या में जो सूत्र दिए हैं, वे बहुत महत्वपूर्ण सूत्र हैं। उनमें सबसे पहला सूत्र है—भेद-विज्ञान। आत्मा और शरीर एक नहीं है। आत्मा अलग है, शरीर अलग है। सामान्यतः व्यक्ति मानता है, पदार्थ और मैं – दो नहीं हैं। शरीर और मैं – दो नहीं हैं। व्यक्ति की कितनी मूर्च्छा है शरीर के प्रति! हमारा सारा व्यवहार शरीर के आधार पर चलता है। कोई भी व्यक्ति किसी व्यक्ति को देखेगा तो सबसे पहले देखेगा कि उसका कद कैसा है? लंबा है या नाटा? गोरा है या काला? फिर देखेगा—चमड़ी कैसी है? आंखें कैसी हैं? हाथ कैसे हैं? वह इनमें उलझ जाएगा। वह शरीर को ही देखेगा। वह यह नहीं देखेगा, मस्तिष्क कैसा है? यदि मस्तिष्क को देखेगा तो वह अध्यात्म में चला जाएगा, भीतर में चला जाएगा। मस्तिष्क को देखने के लिए भी अध्यात्म की दृष्टि चाहिए। इसीलिए बहुत सारे लोग रंग और

रूप को ही देखते हैं, केवल बाहर का दर्शन करते हैं और उसी के आधार पर निर्णय ले लेते हैं। बहिर्दर्शन मिथ्यादृष्टि है। उसका परिणाम है – लडाई और झगडा, कलह और छीना-झपटी, लूट-खसौट, हत्या और आतंक। जब तक समाज आत्मदर्शी नही बनेगा, अन्तर्दर्शी नही बनेगा, भीतर जाकर नही देखेगा तब तक हिसा की इन समस्याओ को कभी रोका नही जा सकेगा। ये हिसा के सहज परिणाम हैं। हिसा को रोकने का उपाय है अन्तर्दर्शन और हिसा को उभारने का उपाय है बाहरी दर्शन।

निश्चयनय : व्यवहारनय

अध्यात्म के आचार्यो ने इन सारी समस्याओ को दो शब्दो में समेट लिया–बाहरी दर्शन और अन्तर्दर्शन या आत्मदर्शन। उन्होंने कहा–यदि समस्या का समाधान चाहते हो तो अन्तर्दर्शन मे आओ। समस्याओ को बढाना चाहते हो तो बाहरी दर्शन मे जाओ। जटिल है आत्मदर्शन की बात। अगर व्यक्ति अन्तर्दर्शन मे जाए तो जीवन-यात्रा की समस्याए कैसे सुलझें? दोनो ओर जटिल समस्या है। भगवान् महावीर ने निश्चयनय और व्यवहारनय की भाषा मे इसका समाधान दिया। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी निश्चयनय और व्यवहारनय के आधार पर इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत किया। एक प्रसिद्ध गाथा है निर्युक्ति साहित्य मे आचार्य अमृतचद्र ने समयसार की टीका मे भी उसे उद्धृत किया है–

जइ जिणमय पवज्जह, मा ववहारणिच्छय मुयह।
ववहारस्स उच्छेये, तित्थुच्छेवो हवई वस्स।।

यदि तुम वीतराग का मार्ग अपनाना चाहते हो, जिनमार्ग अपनाना चाहते हो, अध्यात्म का मार्ग अपनाना चाहते हो तो निश्चय और व्यवहार–दोनो मे से किसी को मत छोडो। यदि निश्चय चला गया तो सचाई चली जाएगी। यदि व्यवहार चला गया तो तीर्थ चला जाएगा। व्यवहार के बिना तीर्थ, शासन या सगठन नही चलता। निश्चय के बिना सचाई नही मिलती। सचाई को जानने के लिए निश्चय बहुत जरूरी है। वास्तविकता तक पहुंचना, अध्यात्म मे पहुंचना, मूल वस्तु तक जाना और भीतर तक जाना निश्चय के बिना सभव नहीं है। व्यवहार को चलाने के लिए तीर्थ और शासन को चलाने के लिए व्यवहार जरूरी है। केवल निश्चय के आधार पर कोई शासन नहीं चल सकता। अकेला व्यक्ति सत्य की खोज कर सकता है किन्तु वह दूसरों को साथ लेकर चल नहीं सकता। व्यवहार और निश्चय – ये दो आखे हैं। दोनो से देखना ही पूर्ण देखना है।

निश्चय के साथ व्यवहार

भिखारी चौराहे पर बैठा था। एक व्यक्ति उधर से गुजरा। भिखारी ने कहा—बाबूजी! इस अंधे को एक रुपया दे दो। व्यक्ति ने भिखारी को गौर से देखकर कहा—अरे भाई! तुम्हारी एक आंख तो सही सलामत है। भिखारी ने कहा—कोई बात नहीं, ५० पैसे ही दे दो। एक आंख का पचास पैसा होता है और दोनों आंखों का एक रुपया होता है। यह बड़ी विचित्र बात है।

निश्चय और व्यवहार—दोनों दृष्टियां मिलने से पूर्णता आती है। परिपूर्णता के लिए दोनों को साथ लेकर चलना बहुत जरूरी है। आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्च्नय की बात बहुत कही, अध्यात्म को समझने पर बहुत बल दिया किन्तु उन्होंने निश्चय के साथ-साथ व्यवहार को भी बराबर निभाया। उन्होंने व्यवहार को छोड़ा नहीं। निश्चय की आंख है सचाई को जानने के लिए और व्यवहार की आंख है जीवन की यात्रा को चलाने के लिए। जीवन की यात्रा को छोड़कर, व्यवहार को छोड़कर सचाई को पाने की बात आकाशीय उड़ान है। जीवन ही नहीं है तो सचाई मिलेगी कैसे? दोनों बातें साथ-साथ चलती हैं।

पराविद्या : अपराविद्या

अध्यात्म एक श्रेष्ठ विद्या है। गीता में कहा गया—सब विद्याओं में श्रेष्ठ विद्या है अध्यात्म विद्या। उपनिषद् में इसे पराविद्या कहा गया है। दो प्रकार की विद्याएं मानी गईं—अपराविद्या और पराविद्या। व्याकरण, काव्य, गणित, शिक्षा, छंद-शास्त्र आदि-आदि लौकिक विद्याएं हैं, अपरा विद्याएं हैं। पराविद्या है आत्मविद्या। पहले एक संतुलन था—अपराविद्या भी पढ़ाई जाती और पराविद्या भी पढ़ाई जाती। उपनिषद् के प्रकरण देखें। कोई भी व्यक्ति पढ़कर आता। गुरु या पिता सबसे पहले पूछते—तुमने क्या पढ़ा? यदि उसे पराविद्या नहीं आती तो कहा जाता—तुम कुछ जानते ही नहीं। जिसको जो जानता है, उसे नहीं जाना तो तुमने पढ़ा ही क्या? कितना महत्त्वपूर्ण सूत्र है—जो जानता है उसे तू नहीं जानता। जानने वाली आत्मा है, जानने वाली हमारी चेतना है। सारी बातें पढ़ लीं किन्तु उस आत्मा और चेतना को नहीं जाना, जो जानने वाली है, तो कुछ भी नहीं जाना। जो नहीं जानने का था, उसे जान लिया गया और जो जानने का था उसे जाना ही नही। ज्ञाता और द्रष्टा को नहीं जाना, केवल ज्ञेय को जान लिया, पदार्थ को जान लिया तो आंख बंद की बंद ही रह गई, खुली ही नहीं।

परम : अपरम

अपराविद्या है जीवन की यात्रा के लिए और पराविद्या है सचाई को जानने के लिए। जैन दर्शन में दो शब्द आते हैं– अपरम और परम। आचारांग सूत्र में परम शब्द का प्रयोग मिलता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी अपरम और परम शब्दों का बहुत प्रयोग किया है। दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं--परम मे स्थित और अपरम में स्थित। परम में स्थित होना, परम को देखना वास्तविक सत्य को देखना है। अपरम में रह जाना नीचे रह जाना है, व्यवहार के धरातल पर स्थित होना है। परम का एक अर्थ है निर्वाण। उसका एक अर्थ है परमार्थ। उसका एक नया अर्थ है पारिणामिक भाव। पांच भाव हैं। उनमें एक भाव है– पारिणामिक भाव। एक भाव है औदयिक। कर्म का उदय होता है और उसके उदय से हमारी अनेक अवस्थाएं बनती हैं। कर्मजनित अवस्था औदयिक भाव है। एक है क्षायोपशमिक भाव। जब कर्म का उदय कम होता है, प्रकृति क्षीण होती है तब क्षयोपशम का भाव विद्यमान होता है। उससे थोडा ज्ञान प्रगट होता है, चेतना जागती है। हमारी ज्ञान की चेतना जागती है, दर्शन की चेतना जागती है।

हमारा अस्तित्व : पारिणामिक भाव

औदयिक भाव और क्षायोपशमिक भाव–ये दोनों कर्म से जुड़े हुए हैं। औदयिक भाव भी कर्म से जुड़ा हुआ है, क्षायोपशमिक भाव भी कर्म से जुड़ा हुआ है। पारिणामिक भाव ऐसा भाव है, जहां कर्म का कोई सबंध नहीं है, कोई प्रयोजन नहीं है। पारिणामिक भाव हमारा अस्तित्व है, यानी मैं हूं, मेरी आत्मा है। अगर औदयिक भाव होता तो आत्मा बिलकुल दब जाती। भीतर में पारिणामिक भाव की एक आग जल रही है, एक ज्योति जल रही है। वह कभी अस्तित्व को इधर-उधर नहीं होने देती। हमारा अस्तित्व इसी आधार पर टिका हुआ है, अन्यथा कर्म के परमाणुओं का सघन आक्रमण आत्मा को कभी समाप्त कर देता। इतना लम्बा काल बीत गया। हजारों-हजारों वर्ष, लाखों-लाखों वर्ष बीत गए। कहा जा सकता है--अनन्त काल बीत गया कर्म के थपेड़े सहते-सहते, उससे संघर्ष करते-करते। इतना काल बीत जाने पर भी अस्तित्व का दीप बुझा नहीं। अस्तित्व का दीप क्यों नहीं बुझा? यह अस्तित्व का दीप अप्रकम्प कैसे रहा? थोड़ी-सी हवा चलती है, मिट्टी का दीप बुझ जाता है पर यह अस्तित्व का दीप क्यों नहीं बुझा?

इसका कारण है—पारिणामिक भाव। वह ऐसी छत्रछाया बनाए हुए है, जिसमें सुरक्षित अस्तित्व सारी बाधाओं को झेल रहा है, तूफानों को झेल रहा है, हवा के झोंको को झेल रहा है। वह अपने अस्तित्व की सुरक्षा और अभिव्यक्ति में सक्षम बना हुआ है। कोई उसे बुझा नहीं सकता। जिन लोगों ने पारिणामिक भाव को समझा है, उन्होंने अपने अस्तित्व को समझा है। जो लोग पारिणामिक भाव को नहीं जानते, वे अपने अस्तित्व को भी नहीं जानते।

भ्रान्त दृष्टिकोण

हमारा अस्तित्व कर्मों से बनने-बिगड़ने वाला अस्तित्व नहीं है। अपने भ्रान्त दृष्टिकोण के कारण हमने सारा भार कर्म पर लाद दिया। ईश्वरवादी दर्शनों ने जो मूल्य ईश्वर को दिया, जैन दर्शन ने वही मूल्य कर्म को दे दिया। केवल इतना अन्तर आया—हमने ईश्वरवाद के स्थान पर कर्मवाद को बिठा दिया। केवल व्यक्ति बदला और कुछ नहीं बदला। जो आज तक अध्यक्ष था, उसे हटाया और उसके स्थान पर नए अध्यक्ष को बिठा दिया। एक नए मुख्यमंत्री का चयन कर उसे मुख्यमंत्री के आसन पर बिठा दिया। इससे मात्र व्यक्ति का परिवर्तन हुआ किन्तु और कोई बदलाव नहीं आया।

जैन दर्शन का महान् सिद्धांत है आत्मकर्तृत्ववाद। जैन दर्शन ने उसका जितना विकास किया है शायद उतना किसी अन्य दर्शन ने नहीं किया। अनेक दर्शनों ने कर्म को अतिरिक्त मूल्य दिया। जैन दर्शन को मानने वाले भी इस प्रवाह से अपने आपको नहीं बचा सके। हम कर्म को सर्वथा अस्वीकार नहीं करते। उसका जितना मूल्य है उतना उसे दिया जा सकता है किन्तु उसे ही सब कुछ नहीं माना जा सकता। हमारे जीवन की घटनाओं में कर्म का स्थान बीस-पच्चीस प्रतिशत हो सकता है किन्तु उनका शत-प्रतिशत कारण कर्म को ही माना जाए, यह उचित नहीं लगता।

काम आता है अपना भरोसा

हमारे जीवन को प्रभावित करने वाले घटक तत्व अनेक हैं। उनमें कर्म भी एक है किंतु वह सब कुछ नहीं है। कर्म के अतिरिक्त और भी अनेक महत्वपूर्ण तत्व हैं जो हमें प्रभावित करते हैं। जैन दर्शन ने जीवन के परिवर्तन में अनेक तत्वों के महत्त्व को स्वीकार किया है। प्रत्येक घटना के साथ काल का भी अपना एक महत्त्व जुड़ा हुआ है। नियति का

भी अपना एक महत्त्व है, प्रकृति का भी अपना एक महत्त्व है, स्वभाव का भी अपना एक महत्त्व है, पुरुषार्थ का भी अपना एक मूल्य है। किन्तु कुछ ऐसा हुआ—उसे एकदम असंतुलित बना दिया गया। सबको परदे के पीछे धकेल दिया गया और कर्म को सबका सर्वोपरि नेता बना दिया गया। यह बड़ी भूल हुई है और इसी कारण कर्मवादी का मतलब कोरा भाग्यवादी हो गया। पुरुषार्थ कुछ भी नही, सब कुछ भाग्य के भरोसे है। बहुत सारे ट्रकों पर लिखा होता है—रामभरोसे। जब-जब मैं इस वाक्य को देखता हूं, मन में आता है—रामभरोसे क्यों लिखा? यह क्यों नहीं लिखा—मेरे भरोसे। अगर व्यक्ति शराब पीकर ट्रक नहीं चलाएगा तो ट्रक अच्छा चलेगा और उसे शराब पीकर चलाएगा तो रामभरोसा काम नहीं आएगा, अपना भरोसा भी धोखा दे जाएगा। भरोसा सबसे पहले अपने आप पर करना चाहिए।

खतरनाक है दूसरों के सहारे ऊपर उठना

जो व्यक्ति अपने आप भरोसा नहीं करता, उसके भगवान का भरोसा, गुरु का भरोसा और धर्म का भरोसा भी कोई काम नही आता। ये भरोसे भी उसी के काम में आते हैं जो अपने आप पर भरोसा कग्ना जानता है।

आचार्यश्री बंबई में चातुर्मास कर रहे थे। एक दिन आचार्यश्री ने कहा—समुद्राष्टक लिखो, समुद्र पर अष्टक लिखो। मैने समुद्राष्टक लिखा। उसकी एक पंक्ति है— *अन्यालंबनतो यदूर्ध्वगमन तन्नास्ति रिक्तं भयात्।*

दूसरों के सहारे जो ऊर्ध्वगमन होता है, वह भय से खाली नहीं होता।

दूसरे का सहारा लेने की बात दूसरे नम्बर पर है। पहले नम्बर पर बात है — अपना सहारा लेना, अपना भरोसा करना, अपने [illegible] पर विश्वास करना, अपने भाग्य की डोर अपने हाथ में थामे रखना। यह स्थिति तब बनती है जब हम अध्यात्म को समझें, आत्मा को समझें, 'संपिक्खए अप्पगमप्पाएण' इस सचाई को समझे। आत्मा के द्वारा आत्मा को देखें—इस सूत्र को समझे बिना यह स्थिति समझ में नही आती और इसीलिए धोखा बहुत होता है। कोई कहता है—मेरे भाई ने मुझे बहुत धोखा दिया। कोई कहता है—मेरी पत्नी ने मुझे धोखा दिया। न जाने कितनी बार ऐसी बाते हम सुनते रहते हैं। व्यक्ति दूसरे पर धोखा देने का आरोपण कर स्वय बचना चाहता है पर यह नहीं सोचता—सबसे बड़ा धोखा मैंने अपने आपको दिया है। जो व्यक्ति अपने

आपको धोखा नहीं देता, उसे कोई दूसरा धोखा दे नहीं सकता। जो आदमी अपने आपको धोखा देता है, उसे दूसरे धोखा क्यों नहीं देंगे?

निश्चय पर बल क्यों?

हम केन्द्र में आएं। केन्द्र में आने का मतलब है आत्मा को जानना। आत्मा को जानने का अर्थ है—सारी समस्याओं को जानना। आत्मा को जानना अपने भाग्य की डोर को अपने हाथ में थामना है। आत्मा को जानना दुनिया के सारे धोखों से बचना है, मिथ्या छल और प्रपंचों से बचना है। आत्मा को जानना अपने मिथ्या दृष्टिकोण का परिष्कार करना है। आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा को जानने की बात पर अधिक बल दिया किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे व्यवहार की सचाई से अनभिज्ञ थे। व्यवहार के बिना काम कैसे चलेगा, इस सचाई से वे परिचित थे। वे जानते थे—आदमी व्यवहार में ही जी रहा है, उसे व्यवहार समझाने की जरूरत ही क्या है? वह जिसे नहीं जी रहा है, उसे उस ओर ले जाने की जरूरत है। इसीलिए कुन्दकुन्द ने कहा—तुम निश्चय में आओ, आत्मा को देखो, आत्मा को समझो और आत्मा से बात करो। जब तुम आत्मा से बात करने लगोगे, अपने आप मौन सध जाएगा। तब तक मौन अच्छा नहीं होता जब तक हम आत्मा से बात करना नहीं जानते। तब तक ध्यान अच्छा नहीं होता जब तक हम अपने आपको देखना नहीं जानते। अपने आपको देखना, अपने आप से बात करना और अपने आपको काम में लेना—इसका अर्थ है निश्चय में जीना।

चेतना के तीन प्रकार

आचार्य कुन्दकुन्द ने अध्यात्म की जो भाषा दी है, उसका महत्त्वपूर्ण सूत्र है—भेद-विज्ञान। अध्यात्म का सबसे बड़ा सूत्र है भेद-विज्ञान। हमारी चेतना तीन प्रकार की होती है—ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफल चेतना। सारी दुनिया कर्म की चेतना को जानती है, कर्मफल की चेतना को जानती है किन्तु ज्ञान की चेतना को नहीं जानती। जितनी आश्रव की चेतना है, राग और द्वेष की चेतना है, वह कर्म की चेतना है। क्या कोई व्यक्ति ऐसा है, जो राग का जीवन नहीं जीता, द्वेष का जीवन नहीं जीता?

कर्म की चेतना

प्रिय और अप्रिय – दोनों संवेदनों में हमारे सारे जीवन की यात्रा चलती है। एक व्यक्ति भोजन करने बैठा। यदि भोजन अच्छा बना है तो

वह कहेगा—खाना कितना अच्छा बना है। स्वादिष्ट है, मजा आ गया। यदि अच्छा नहीं बना है तो वह कहेगा — कैसा भोजन बनाया है, कितना घटिया है, ऐसा भोजन न करता तो अच्छा होता! भोजन के साथ दो बातें जुड़ीं—राग की चेतना, द्वेष की चेतना यानी कर्म की चेतना। उससे कर्म-संस्कार का बंध हो गया। व्यक्ति अच्छा मकान देखकर कहेगा—कितना बढ़िया मकान बना है। वह उसकी प्रशंसा करते थकेगा ही नहीं। यदि मकान पसंद नहीं आया तो कहेगा, कितना खराब मकान बनाया है! बनाना ही नहीं जानता। मकान बनाने वाला बेवकूफ है।

केवल भोजन या मकान का प्रश्न नहीं है। दुनिया के जितने पदार्थ हैं, उनके प्रति या तो राग की बात आएगी या द्वेष की बात आएगी। कोई आदमी किसी का अच्छा स्वागत करता है तो स्वागत पाने वाला व्यक्ति कहेगा—कितना सज्जन है! क्या सत्कार किया! यदि स्वागत या सम्मान अच्छा नहीं होता है तो आलोचना हो जाती है। दुनिया का यह सारा व्यवहार राग और द्वेष की चेतना पर टिका हुआ है। राग और द्वेष की चेतना हर पदार्थ और घटना के साथ जुड़ी हुई है। इन दोनो से परे, कर्म की चेतना से परे जो वीतराग चेतना है, वह शुद्ध चेतना है। उसे समझना बहुत कठिन है। शायद बहुत कम लोग ऐसे हैं, जो उस चेतना को जानते हैं।

कर्मफल की चेतना

दूसरी है कर्मफल की चेतना। प्रत्येक आदमी चाहता है—अच्छा भोजन मिले, अच्छा मकान मिले, सारी सुविधाएं मिले, सब कुछ मिले। यह कर्मफल की चेतना है। व्यक्ति कर्म का फल चाहता है, अच्छा फल चाहता है। वह चाहता है—पुण्य का फल मिले, भाग्य खिल जाए। व्यक्ति ज्योतिषी के पास जाता है, उसे कुंडली दिखाता है, हाथ की रेखा दिखाता है और पूछता है—मेरा भाग्य कैसा है? मैं क्या बनूंगा? बड़ा सेठ बनूंगा, करोड़पति बनूंगा या कोई अधिकारी बनूंगा? ये सारे प्रश्न कर्मफल की चेतना से जुड़े हुए हैं।

परिवार नियोजन के अधिकारी एक सेठ के पास गए। सेठ को अपना परिचय देते हुए कहा—सेठ साहब! आपके कितनी संतानें हैं?

सेठ ने कहा—सात।

अब आप परिवार नियोजन करा लें।

नहीं।

क्यों नहीं कराते? हम इसका कारण जानना चाहते हैं।

सेठ ने कहा—ज्योतिषी ने कहा है, मेरा नौवाँ लड़का मंत्री बनने वाला है। मैं परिवार-नियोजन कैसे करा सकता हूं?

यह कर्मफल की चेतना बहुत प्रगाढ़ है। आदमी कर्म की चेतना और कर्म फल की चेतना—दोनों में उलझा हुआ है। जो ज्ञान की चेतना है, वहां तक कोई जाता ही नहीं है। व्यक्ति उस तक जाने का उपाय करता ही नहीं है।

ज्ञान की चेतना

ज्ञान की चेतना में व्यक्ति कब जा सकता है? आचार्य अमृतचन्द्र ने इसकी बहुत सुन्दर मीमांसा की है—

भावयेद् भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद् यावद् पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते।।

तब तक अविच्छिन्न धारा से भेद-विज्ञान की भावना करनी चाहिए जब तक ज्ञान पदार्थ-चेतना से च्युत होकर ज्ञान में प्रतिष्ठित न हो जाए।

आत्मा अलग है और शरीर अलग है, इसके उच्चारण मात्र से काम नहीं बनता। यदि यह अनुभूति हो जाए—मैं अलग हूं और शरीर अलग है, तो मानना चाहिए कि ज्ञान-चेतना का द्वार उद्घाटित हो चुका है। दशवैकालिक सूत्र में एक उल्लेख है—मुनि पहले विवाहित था और स्त्री को छोड़कर साधु बन गया। यदि उसके मन में अपनी स्त्री के प्रति राग जाग जाए तो क्या करना चाहिए? उसका पहला सूत्र है— भेद-विज्ञान। राग के जागने पर मुनि सोचे—वह मेरी नहीं है और मैं उसका नहीं हूं। इसका अभ्यास करने से उसके प्रति जो राग है, वह राग समाप्त होता है। यदि यह संकल्प शब्द के उच्चारण तक सीमित रहा, अनुभूति में नहीं बदला तो परिणाम विपरीत भी आ सकता है। एक मुनि ने ऐसा ही उपक्रम किया था। उसे कहना था—मैं उसका नहीं हूं और वह मेरी नहीं है किन्तु राग में वह बोलता चला गया—वह मेरी है और मैं उसका हूं।

यही है अध्यात्म

कोरे शब्द में आदमी उलझ जाता है। यह अनुभूति जाग जाए—वह मेरी नहीं है और मैं उसका नहीं हूं तो रागात्मक चेतना में परिवर्तन हो सकता है। यह भेद-विज्ञान का सूत्र बड़ा कारगर हो सकता है। यह भेद-विज्ञान की धारा अविच्छिन्न बन जाए, निरन्तर यह आत्मानुभूति

जाग जाए—यह शरीर मेरा नहीं है, मैं इसका नहीं हूं, यह पदार्थ मेरा नहीं है और मैं इसका नहीं हूं, मकान मेरा नहीं है और मैं इसका नहीं हूं। मकान रह जाएगा और आदमी चला जाएगा। शरीर शरीर है। शरीर रह जाएगा और आदमी चला जाएगा। इस सचाई का अनुभव करना भेद-विज्ञान है। जब यह धारा अविच्छिन्न बन जाएगी तब हमारा ज्ञान पदार्थ से च्युत होकर ज्ञान में ही प्रतिष्ठित हो जाएगा। उस स्थिति में ज्ञान कोरा ज्ञान रहेगा, न राग की चेतना रहेगी और न द्वेष की चेतना रहेगी। और यही है अध्यात्म। अध्यात्म का शाब्दिक अर्थ है—भीतर जाना किन्तु उसका तात्पर्यार्थ है—कोरा शुद्ध ज्ञान होना, पदार्थ ज्ञान का छूट जाना, कर्म की चेतना और कर्म फल की चेतना का छूट जाना।

अत्यंतं भावयित्वा विरतमविरत कर्मणस्तत्फलाच्च,
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनायाः।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां,
सानंदं नाटयंतः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबंतु।।

आचार्य कुन्दकुन्द का प्रतिपाद्य : पहला निष्कर्ष

सुकरात को मृत्यु-दण्ड के समय कहा गया—तुम सत्य का प्रचार करना छोड़ दो, तुम्हें माफ कर दिया जाएगा। सुकरात ने कहा—मैं सत्य को छोडकर जीना नहीं चाहता। मैं मृत्यु को वरण करना पसंद करूंगा, सत्य को नहीं छोड़ूंगा। यह निश्चय की बात है, भेद-विज्ञान की बात है किंतु उसके साथ व्यवहार भी है। उनके शिष्यो ने उनको भगाने की सारी व्यवस्था कर ली। सुकरात के पास जाकर शिष्य बोले—हमने सारी व्यवस्था करली है। हम आपको जेल से भगा कर ले जाना चाहते हैं।

उन्होंने कहा—मैं मरना पसंद करूंगा पर नागरिक-कर्तव्यों से विमुख होना पसंद नहीं करूंगा।

यह है व्यवहार।

न सत्य को छोड़ना और न व्यवहार को छोड़ना—यह दृष्टिकोण सम्यग्दृष्टि है। आचार्य कुन्दकुन्द के प्रतिपाद्य का पहला निष्कर्ष है—सम्यग् दृष्टिकोण का विकास, अध्यात्म का विकास। अध्यात्म के विकास के बिना सम्यग्दृष्टि का विकास नहीं होता और सम्यग्दृष्टि के विकास के बिना अध्यात्म का विकास नहीं होता। □

संकलिका 2

- परमाणुमित्तय पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
  ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि।।
- अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो, णाणी य णेच्छदे धम्मं।
  अपरिग्गहो दु धम्मस्स, जाणगो तेण सों होदि।।
- उप्पण्णोदय भोगो वियोग बुद्धिए तस्स सो णिच्चं।
  कखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी।।
- णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
  णो लिप्पदि रजएण दु कद्दममज्झे जहा कणय।।
- अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
  लिप्पदि कम्मरएण दु, कद्दममज्झे जहा लोह।।
  (समयसार- २०१, २१०, २१५, २१८, २१९)
- ज्ञानी की परिभाषा
- ज्ञानी होने का अर्थ
- ज्ञानी का लक्षण—
  उपचार बुद्धि
  अनिच्छा
  अलेप
- ज्ञान और अज्ञान की भेदरेखा
- ज्ञान और ध्यान की दूरी मिटे

ज्ञान खोल देता है जीवन में नए आयाम

ज्ञान और ध्यान—ये दो शब्द बहुत प्रचलित हैं। अध्यात्म शास्त्र और सामान्य व्यवहार में ज्ञान को चंचल माना जाता है। ध्यान है मन की एकाग्रता। संस्कृत का प्रसिद्ध सूक्त है—**चलं चित्तं ज्ञानं, स्थिरं चित्तं ध्यानम्।** जो चंचल है, वह ज्ञान है। जो स्थिर है, वह ध्यान है। ज्ञान और ध्यान में एक दूरी स्वीकार की गई। आचार्य कुन्दकुन्द ने अध्यात्म के परिप्रेक्ष्य में इस दूरी को कम कर दिया। उनकी भाषा में ज्ञान और ध्यान—दो नहीं हैं। जो ज्ञान है, वह ध्यान है। जो ध्यान है, वह ज्ञान है।

ज्ञानी कौन?

सारे शास्त्र और ग्रन्थ पढ़ने वाला ज्ञानी नहीं होता। एक व्यक्ति सारे शास्त्रो का ज्ञाता है किन्तु यदि वह रागी है तो ज्ञानी नहीं है। ज्ञानी वह है, जो आत्मा को जानता है। राग-रहित आदमी ही आत्मा को जान सकता है।

परमाणुमित्तयं पि हु, रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु, सव्वागमधरो वि।।

अध्यात्म में ज्ञानी और अज्ञानी की परिभाषा बदल जाती है। लौकिक भाषा में जो पढ़ा-लिखा है, वह ज्ञानी है। जो अनपढ है, वह अज्ञानी है। अध्यात्म की दृष्टि में ज्ञानी वह है, जो राग-रहित है, विराग-सहित है। अज्ञानी वह है, जो राग में लिप्त है।

ज्ञान को मोक्ष का एक कारण माना गया है। कुछ दर्शन क्रियावादी हैं, कर्मकाण्डवादी हैं। कुछ दर्शन ज्ञानवादी हैं। ज्ञानवादी दर्शन का कथन है—ज्ञान ही मोक्ष का साधन है। ज्ञान का होना जरूरी है, क्रिया का मूल्य नहीं है। ज्ञान प्रधान है, कर्म प्रधान नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कर्म को अस्वीकार नहीं किया किन्तु उन्होंने ज्ञान को बहुत प्रधानता दी।

पहचान का माध्यम

आज हमारा ज्ञान पदार्थ में अटका हुआ है। वह ज्ञान में प्रतिष्ठित नहीं

है। दो शब्द बहुत प्रसिद्ध हैं—आब्जेक्ट (पदार्थ) और सब्जेक्ट (आत्मा)। व्यक्ति का ध्यान आब्जेक्ट पर, पदार्थ, कर्म या विषय पर अटका हुआ है। उसका ध्यान सब्जेक्ट पर नहीं है। व्यक्ति का सारा बोध पदार्थ से जुड़ा हुआ है। हमारी सारी पहचान भी पदार्थ के माध्यम से होती है। कहा जाता है—यह आदमी धनी है। धन के साथ पहचान जुड़ गई। कहा जाता है—अमुक व्यक्ति प्रशासनिक अधिकारी है, प्रोफेसर है, वकील है, विद्वान् है। ये सारे परिचय पदार्थ से जुड़े हुए हैं। इस दुनिया में हम पदार्थ के द्वारा पहचाने जा रहे हैं। हमारी अपनी कोई पहचान नहीं है। आदमी कैसा है? इसका कोई बोध नहीं है। हालांकि आदमी का मूल्य सर्वोपरि है चैतन्य का मूल्य सर्वोपरि है, किन्तु उसके द्वारा हमारी कोई पहचान नहीं है। पदार्थ हमारी पहचान का माध्यम है और यही अपनी पहचान में बडी बाधा है।

ज्ञान और जीवन-व्यवहार

हमारे सामने प्रश्न है—यदि ज्ञान इतना शुद्ध बन गया, ज्ञान ज्ञान मे प्रतिष्ठित हो गया तो जीवन की यात्रा कैसे चलेगी? जब राग नहीं रहेगा, आकर्षण नहीं रहेगा तो जीवन का व्यवहार कैसे संभव बन पाएगा? क्या ज्ञानी आदमी खाना नहीं खाएगा? क्या ज्ञानी आदमी बीमार होने पर चिकित्सा नहीं कराएगा? दवा नहीं लेगा? क्या ज्ञानी आदमी मकान में नही रहेगा? अगर उसका पदार्थ से सम्बन्ध नही है, लगाव नही है, वह केवल ज्ञान में प्रतिष्ठित है तो जीवन के सारे व्यवहार समाप्त नहीं हो जाएंगे?

आचार्य ने समाधान की भाषा मे कहा—ज्ञानी के ज्ञान मे प्रतिष्ठित होने पर भी जीवन के व्यवहार समाप्त नहीं होगे। ज्ञानी आदमी खाना भी खाएगा, पानी भी पिएगा। बीमार होने पर दवा भी लेगा।

आचार्य कुन्दकुन्द ने इस सचाई को बहुत स्पष्टता से प्रतिपादित किया—ज्ञानी होने का अर्थ पदार्थ को छोड़ना नहीं है। ज्ञानी व्यक्ति पदार्थ का उपभोग करेगा किन्तु उसका दृष्टिकोण बदल जाएगा।

घटना एक : दृष्टिकोण दो

भूख लगने पर एक ज्ञानी व्यक्ति भी भोजन करेगा किन्तु उसके प्रति उसकी बुद्धि उपचारात्मक होगी। वह सोचेगा—भूख एक बीमारी है। उसके उपचार के लिए भोजन करना है। सस्कृत में भूख का नाम ही है—'जाठराग्निजा पीडा'। भूख एक व्याधि है, पीड़ा और बीमारी है।

उसका उपचार करना है। एक साधक या ज्ञानी व्यक्ति का भोजन के प्रति चिकित्सात्मक दृष्टिकोण होगा। एक सामान्य व्यक्ति का, अज्ञानी का, भोजन के प्रति रसनात्मक दृष्टिकोण होता है। वह सोचता है—भोजन कितना स्वादिष्ट है, कितना मधुर है! घटना एक होती है और दृष्टिकोण दो बन जाते हैं। एक ज्ञानी व्यक्ति भी भोजन करता है, एक अज्ञानी व्यक्ति भी भोजन करता है किन्तु भोजन के पीछे जो दृष्टिकोण होता है, वह बिल्कुल पृथक् होता है। एक व्यक्ति का दृष्टिकोण होता है स्वाद का, शरीर के पोषण का, शरीर को बढ़ाने का और एक व्यक्ति का दृष्टिकोण होता है चिकित्सा करने का।

उपचार बुद्धि

छेदसूत्रो में मुनि के लिए विधान किया गया—शोभा बढ़ाने के लिए, शरीर के सौन्दर्य को बढ़ाने के लिए भोजन नहीं करना चाहिए। प्रश्न प्रस्तुत हुआ—मुनि भोजन किसलिए करे? भोजन का उद्देश्य क्या हो? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा गया—केवल शरीर धारण के लिए, शरीर-निर्वाह के लिए, संयम-जीवन की निर्बाध पालना के लिए और वेदना के शमन के लिए मुनि भोजन करे। भूख से जो वेदना होती है, कष्ट होता है, उसे शात करने के लिए मुनि भोजन करता है। यह दृष्टिकोण का परिवर्तन ज्ञान की प्रतिष्ठा से ही सभव बनता है।

परिवर्तन का पहला सूत्र है—उपचारबुद्धि। जब व्यक्ति के भीतर ज्ञान जागता है, आदमी ज्ञानी बनता है तब उसकी जो बुद्धि जागती है, वह उपचारबुद्धि होती है। एक ज्ञानी व्यक्ति मकान में रहेगा किन्तु उसका दृष्टिकोण होगा—जीवन मे आने वाली कठिनाइयो को कम किया जा सके, साधना का मार्ग निरापद बन सके। शरीर मे रोग पैदा होने पर वह दवा भी लेता है किन्तु उसका उद्देश्य होता है—साधना के लिए शरीर को स्वस्थ रखना।

अन्तर है दृष्टिकोण का

आचारांग सूत्र का महत्त्वपूर्ण सूक्त है—अणणहा णं पासह परिहरेज्जा। जो पश्यक् है, द्रष्टा है, ज्ञानी है, वह भोग करता है, खान-पान, शयन आदि-आदि सारे व्यवहारों को जीता है किन्तु उनके प्रति उसका दृष्टिकोण एक दूसरे प्रकार का होता है। एक सामान्य आदमी या अज्ञानी आदमी जैसा व्यवहार करता है, ज्ञानी आदमी उससे अन्यथा करेगा। जो बात आचारांग के इस सूक्त से फलित होती है, वही आचार्य कुन्दकुन्द के

इस दृष्टिकोण का प्रतिपाद्य है। यह अन्यथा का दृष्टिकोण या उपचार का दृष्टिकोण ज्ञान और जीवन व्यवहार में सामंजस्य स्थापित करता है, ज्ञान और व्यवहार के अन्तर को मिटाता है।

परिग्रही कौन?

प्रश्न हुआ—क्या ज्ञानी आदमी परिग्रह नहीं करता? उत्तर दिया गया—ज्ञानी आदमी परिग्रह नहीं करता। क्या भोजन परिग्रह नहीं है? क्या मकान में रहना परिग्रह नहीं है? इस प्रश्न के संदर्भ में आचार्य कुन्दकुन्द के विचार बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। परिग्रही वह है, जिसके मन में इच्छा है। ज्ञान और अज्ञान के बीच भेदरेखा खींचते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा—जिसके मन में इच्छा पैदा होती है, वह अज्ञानी है—

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो, णाणी य णेच्छदे धम्मं।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि।।

इच्छा और अज्ञान, अनिच्छा और ज्ञान—यह एक विचित्र रेखा है। प्रश्न होता है—क्या ज्ञानी आदमी इच्छा नहीं करता? क्या ज्ञानी आदमी को भूख नहीं लगती? क्या भूख लगने पर वह भोजन की इच्छा नहीं करेगा? जब व्यक्ति में इच्छा उत्पन्न होती है, तभी वह भोजन करता है। आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्रस्तुत इच्छा शब्द सामान्य अर्थ मे इष्ट नहीं है। उनके कथन का तात्पर्य है—वह इच्छा इच्छा नहीं है, जिसके साथ लगाव नहीं होता, आकर्षण नहीं होता। आकर्षण या लगाव के साथ जो मांग पैदा होती है, वह इच्छा है।

इच्छा : अनिच्छा

हम इसे उदाहरण की भाषा में समझें। इच्छा है दिमाग में महल का रहना और अनिच्छा है महल में व्यक्ति का रहना। कितना बड़ा अन्तर है! व्यक्ति महल में रहता है, यह एक बात है और व्यक्ति के दिमाग में महल रहता है, यह बिल्कुल दूसरी बात है। दिमाग में भोजन रहे, यह अनिच्छा नहीं है, ज्ञान नहीं है। भोजन केवल हाथ से आए और मुंह में जाए तो वह ज्ञानी का भोजन है और दिमाग में रहे तो वह अज्ञानी का भोजन है। आदमी कितने मनसूबे बांधता है। वह सोचता है—आज मौसम बहुत अच्छा है, हलुआ खाना चाहिए, बड़े-पकौड़े बनने चाहिए, यह बनना चाहिए, वह बनना चाहिए। इसका अर्थ है—उसके दिमाग में भोजन रहता है। कभी-कभी व्यक्ति उपवास करता है। दिन बीतता है, उपवास का असर आना शुरू हो जाता है। रात को नींद नहीं आती। वह

पारणे के बारे में सोचता रहता है। उपवास के पारणे में क्या खाऊंगा? क्या पदार्थ पारणे के समय खाना चाहिए? इन सब बातों की चिंता वह उपवास के दिन कर लेता है। यह व्यक्ति का अज्ञान है।

विचित्र प्रश्न

इच्छा और अनिच्छा के आधार पर ज्ञानी और अज्ञानी की एक परिभाषा बन गई। कभी-कभी परिभाषाएं भी निर्धारित होती हैं।

एक डाक्टर ने भोज का आयोजन किया। अनेक वरिष्ठ नागरिक उस भोज में आमंत्रित थे। प्रत्येक व्यक्ति की प्लेट में भोजन परोस दिया गया। डाक्टर ने कहा—अब हम भोजन शुरू करेंगे। मैं आपसे एक प्रश्न पूछना चाहता हूं—आप आदमी की तरह भोजन करेंगे या पशु की तरह भोजन करेंगे? लोगों ने कहा—डाक्टर साहब! आपका प्रश्न बड़ा विचित्र है। हम आदमी हैं, आदमी की तरह करेंगे, पशु की तरह कैसे करेंगे? आपके इस प्रश्न का तात्पर्य क्या है? डाक्टर साहब ने अपनी बात स्पष्ट करते हुए कहा—आदमी भोजन करने बैठता है और अच्छी चीज सामने होती है तो वह खाता ही चला जाता है। पशु भी भोजन करता है किंतु वह जितनी भूख होती है, उतना ही खाता है। आप सोचें—आप भोजन पशु की तरह करेंगे या आदमी की तरह करेंगे?

आदमी की तरह खाना, यह अज्ञानी का भोजन है और पशु की तरह खाना, यह ज्ञानी का भोजन है। यह बात उलटी लगेगी। पशु नहीं बनाता है किंतु पशु की तरह भोजन करना है। पशु की अच्छी बात को क्यों नहीं ग्रहण किया जाए? अच्छी बात किसी से भी प्राप्त हो, ले लेनी चाहिए।

व्यवहार ज्ञानी का

ज्ञानी का व्यवहार सर्वथा भिन्न होता है। अज्ञानी का व्यवहार सर्वथा भिन्न होता है। जब ज्ञान की चेतना जागती है, तब पदार्थ की चेतना, अहंकार और ममकार की चेतना कम होती चली जाती है, जीवन का सारा व्यवहार बदल जाता है।

साधक के पास एक व्यक्ति आया और गालियां बकने लगा। उसने बहुत गालियां बकीं। सामान्य बात यह है—ईंट का जवाब पत्थर से देना चाहिए। सामान्य व्यक्ति गाली के प्रति गाली का प्रयोग करेगा, वह लाठी और पत्थर का प्रयोग भी कर लेता है लेकिन एक ज्ञानी आदमी का व्यवहार इससे भिन्न होगा। साधक का मन गालियां सुनकर भी खिन्न

नहीं हुआ। वह प्रसन्न था, अपनी मस्ती में डूबा हुआ था। व्यक्ति ने सोचा—यह विचित्र आदमी है। मैंने गालियां दी और यह हंस रहा है। इसे गुस्सा नहीं आया। व्यक्ति गाली दे और सामने वाले व्यक्ति को गुस्सा न आए तो उसे संतोष नहीं होता। एक व्यक्ति गाली दे और सामने वाला व्यक्ति गुस्से से भर जाए, उसका चेहरा लाल-पीला हो जाए तो व्यक्ति को मजा आता है। व्यक्ति से रहा नहीं गया। उसने कहा—महाशय! मैंने गाली दी और आप पर कोई असर नहीं हुआ? ऐसा क्यों? साधक ने मुस्कराते हुए कहा—तुमने गालियां दीं किन्तु मैंने स्वीकार नहीं कीं। मैं अप्रसन्न तब बनता, जब उन गालियों को स्वीकार कर लेता।

व्यवहार-परिवर्तन का कारण

हम देखें। दुनिया मे जितने महापुरुष हुए हैं, जितने बड़े-बडे व्यक्ति हुए हैं, उनका व्यवहार सामान्य व्यक्ति से जरा भिन्न दिखाई देता है। इसका कारण है—जिस व्यक्ति में ज्ञान की थोडी-सी चेतना जाग जाती है, ज्ञान की एक किरण फूट पड़ती है, उसका सारा व्यवहार बदल जाता है। हमें लगता है—वह बड़ा आदमी है। उसकी बुराई करने पर भी उसने अच्छा व्यवहार किया, उसे कष्ट देने पर भी उसने अच्छा व्यवहार किया। हम इसे बड़ी बात मानते हैं पर ऐसा होता है। जब अज्ञान मिटता है, ज्ञान की दीपशिखा जल उठती है, व्यक्ति बदल जाता है।

महत्त्वपूर्ण सूत्र

ज्ञान का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—इच्छापरिवर्तन, अनिच्छा का जागना, अनुरागात्मक इच्छा का न होना। एक प्रश्न प्रस्तुत हो सकता है—हमारे बहुत कर्म किए हुए हैं। उन कर्मों का फल मिलता है, बहुत सारे पदार्थ और सामग्री मिलती है। इस अवस्था में ज्ञानी क्या करेगा? आचार्य ने कहा—अज्ञानी आदमी वर्तमान में उस सामग्री को भोगेगा, पदार्थ के प्रति अनुराग करेगा और भविष्य के लिए आकांक्षा करेगा—आज मुझे बड़ा सुख मिला है, कल भी ऐसा ही सुख मिलना चाहिए। भविष्य की आकांक्षा और वर्तमान के प्रति अनुराग। जो आदमी ज्ञानी है, वह वर्तमान मे प्राप्त पदार्थ को काम में लेगा किन्तु उसके प्रति अनुराग नहीं करेगा। बहुत सूक्ष्म भेद है—काम में लेना और अनुराग न करना। न वर्तमान में राग और न भविष्य में आकांक्षा—

उप्पण्णोदय भोगे वियोगबुद्धिए तस्स सो णिच्चं।
कंखामणागदस्स य, उदयस्स ण कुव्वदे णाणी।।

अध्यात्म की भाषा

हम अध्यात्म की भाषा को पढ़ें। दो प्रकार के कर्म माने जाते हैं—रूखा कर्म और चिकना कर्म। एक है अकर्म। प्रवृत्ति के साथ कर्म का बंध होता है। यदि रूखे कर्म का बंध होता है तो वह उदय में आएगा किन्तु उसका विपाक गहरा नहीं होगा। पदार्थ के प्रति अनुरागात्मक इच्छा नहीं है तो कर्म का बंध हल्का होगा। वह सहज उदय में आकर क्षीण हो जाएगा। यदि दृढ़ रागात्मक प्रवृत्ति होती है तो कर्म का बंध सघन होगा, चिकना होगा और उसका गहरा विपाक भोगना होगा। अनुराग से कर्म विपाक में बहुत अन्तर आ जाता है। वर्तमान में प्राप्त के प्रति अनुराग का न होना, भविष्य की आकांक्षा का न होना, यह ज्ञानी का लक्षण है।

अलेप

ज्ञानी का एक लक्षण है—अलेप। ज्ञानी के लेप नहीं होता। ज्ञानी अलेप हो जाता है। मिट्टी का लेप होता है, कीचड़ का लेप होता है, अंजन का लेप होता है। आज भी अनेक प्रकार के लेप और श्लेष प्रचलित हैं, जो चिपक जाते हैं। ज्ञानी के लेप नहीं लगता। आचार्य कुन्दकुन्द ने इस बात को बहुत स्पष्ट किया है। एक ज्ञानी आदमी कर्मों के बीच रहता है किन्तु वह उनसे लिप्त नहीं होता। आचार्य कुन्दकुन्द ने बहुत सुन्दर उदाहरण दिया है—

> *णाणी रागप्पजहो, सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।*
> *णो लिप्पदि रजएण दु, कद्दममज्झे जहा कणयं।।*
> *अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।*
> *लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहं।।*

कीचड़ में लोहा और सोना — दोनों पड़े हुए हैं। दोनों की प्रकृति अलग है। कीचड़ में पड़े हुए सोने पर जंग नहीं लगेगा, वह बिलकुल साफ रहेगा किन्तु लोहे पर जंग लग जाएगा। जैसे सोने और लोहे की प्रकृति अलग-अलग है, वैसे ही अज्ञानी और ज्ञानी आदमी की प्रकृति अलग-अलग है। अज्ञानी आदमी कर्म के मध्य रहता है तो वह उसमें लिप्त हो जाता है। ज्ञानी आदमी उसी घटना में रहते हुए भी लिप्त नहीं होता। घटना समान है, एक लिप्त हो जाता है, दूसरा अलिप्त बना रहता है।

युद्ध का मूल कारण

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ध्यान की मुद्रा में खड़े थे। एक स्वर सुनाई दिया—राजपाट छोड़कर मुनि बन गया, ध्यान कर रहा है। लड़के पर शत्रुओं ने आक्रमण कर दिया, वह बेचारा मारा जा रहा है। यह सुनते ही राजर्षि की ज्ञानचेतना समाप्त हो गई। अज्ञान प्रकट हो गया। राजर्षि ध्यानमुद्रा में खड़े युद्ध करने लग गए। युद्धभूमि पर नहीं गए, मोर्चे पर नहीं गए किन्तु ध्यान युद्ध की भावना में बदल गया। कायोत्सर्ग की मुद्रा में राजर्षि का युद्धभाव तीव्रतर होता चला गया। वे इतने लड़े कि लड़ते-लड़ते सातवीं नारकी तक जा सके, ऐसी लड़ाई शुरू कर दी।

जब अज्ञान जागता है भीतर की लड़ाई शुरू हो जाती है, अन्तर में युद्ध और संघर्ष प्रारंभ हो जाता है। जितने राष्ट्रीय कलह हैं, सामाजिक और संस्थागत कलह हैं, वे व्यक्ति के भीतर से शुरू होते हैं। संयुक्तराष्ट्रसंघ का यह वक्तव्य— 'युद्ध पहले मनुष्य के मस्तिष्क में लड़ा जाता है' नया नहीं है। हजारों वर्ष पहले यह बात कही गई, युद्ध पहले मनुष्य के दिमाग में पैदा होता है, फिर रणभूमि में लड़ा जाता है। रणभूमि में लड़े जाने वाले युद्ध का मूल कारण मनुष्य के मस्तिष्क में है। अज्ञानी आदमी के मस्तिष्क में लड़ाइयां, झगड़े, कलह, अन्तर्द्वंद्व चलते रहते हैं। ज्ञानी आदमी के मस्तिष्क में कुछ भी नहीं होते। वह इन सबसे अलिप्त रहता है।

रूक्ष होता है ज्ञानी

उपचारबुद्धि, अनिच्छा और अलेप — ये तीन ऐसे तत्त्व हैं, जो ज्ञानी की जीवनयात्रा में सामंजस्य स्थापित करते हैं, ज्ञानी और अज्ञानी के बीच भेदरेखा भी खींच देते हैं।

प्रश्न है—क्या ज्ञानी होना सबके लिए जरूरी होता है? अज्ञानी का भी जीवन चलता है, निर्भयता से चलता है। एक अज्ञानी आदमी पदार्थ को जितना भोगता है, ज्ञानी आदमी उतना नहीं भोगता। अज्ञानी आदमी जीवन का जितना रस लेता है, ज्ञानी आदमी जीवन का उतना रस नहीं लेता। महावीर की भाषा में ज्ञानी आदमी रूक्ष होता है इसीलिए अज्ञान के प्रति जितना आकर्षण है, उतना ज्ञान के प्रति नहीं है किन्तु अज्ञानी जीवन में समस्याएं बहुत आती हैं। उन समस्याओं से मुक्ति पाने के लिए व्यक्ति के मन में ज्ञानी होने की इच्छा जागती है। एक अन्त:प्रेरणा जागती है—ज्ञानी होना चाहिए, अज्ञान को मिटाना चाहिए, ज्ञान पाना चाहिए।

संदर्भ : अकाल मृत्यु

दुनिया में जितनी समस्याएं हैं, वे सब अज्ञानजनित हैं। अज्ञान बहुत सारी समस्याओं को जन्म देता है। इस सचाई को हम अकाल मृत्यु के संदर्भ में देखें। यह निश्चित है, जो जन्म लेता है, वह मरता है। प्रश्न है—जो मरते हैं, वे स्वाभाविक मौत से मरते हैं या अकाल मृत्यु से। उत्तर होगा— स्वाभाविक मौत से मरने वाले व्यक्ति कम हैं, अकाल मौत से मरने वाले ज्यादा हैं। अज्ञानी आदमी अकाल मौत से मरता है। भगवान् महावीर ने अकाल मृत्यु के सात कारण बतलाए हैं। उनमें पहला कारण है—तीव्र अध्यवसाय। अध्यवसाय की तीव्रता अकाल मृत्यु का एक कारण है. जिस व्यक्ति में राग-द्वेष की तीव्रता है, वह अपनी मौत नहीं मरता, स्वाभाविक मौत नहीं मरता, वह अकाल मृत्यु से मरता है।

लोभ : परिणाम

आयुर्वेद में शरीर के सारे अवयवों की आयु बतलाई गई है। हाथ की आयु तीन सौ वर्ष, गुर्दे की आयु तीन सौ वर्ष और हड्डियों की आयु उससे भी ज्यादा है। शरीर के अवयवों की आयु तीन सौ-चार सौ वर्ष और व्यक्ति सौ वर्ष भी जीवित न रहे, सत्तर वर्ष भी पूरे न कर पाए, इसका अर्थ है—आदमी अकाल मृत्यु को बुलाता है। इसका कारण है—अध्यवसाय की तीव्रता, राग-द्वेष की तीव्रता, भय और आकांक्षा की तीव्रता। आज के युग में लोभ भी ज्यादा बढ़ा है। लोभ पहले नहीं था, यह नहीं कहा जा सकता किन्तु ऐसा लगता है—आज वह ज्यादा है। लोभ बढ़ेगा तो भय बढ़ेगा। भय बढ़ेगा तो अनेक समस्याएं पैदा होंगी। आयुर्वेद के अनुसार लोभ का परिणाम है अग्निमंदता। जिसमें लोभ ज्यादा होता है, उसकी अग्नि मंद हो जाती है, भूख की रुचि कम हो जाती है।

आचार्यश्री एक बड़े उद्योगपति के घर पर प्रवास कर रहे थे। पांच-छह दिन बीत गए। एक दिन आचार्यश्री ने कहा— आपका जीवन क्या है? आप शांति से भोजन भी नहीं कर पाते। भोजन करते समय भी दस-दस बार फोन करते हैं। दिन-रात फोन की घण्टियां बजती रहती हैं। न शांति से सो पाते हैं, न शांति से खा पाते हैं। उद्योगपति बोले—महाराज ! आपका कथन यथार्थ है। मैं कुछ भी नहीं खा पाता। मैं एक छोटा-सा फुलका—फांफरा खाता हूं, वह भी पूरा नहीं खा सकता। मुझे भूख ही नहीं लगती।

प्रबल है लोभ

दुनिया बड़ी विचित्र है। जिनके पास धन का अंबार है, उनकी अग्नि मंद है। जिनकी अग्नि तेज है, उनको खाने को नहीं मिल रहा है। इस दुनिया में ऐसे विरोधाभास चलते हैं। आजकल हार्टफेल से मरने वालों की संख्या बढ़ रही है। इसका सबसे बड़ा कारण यही लगता है—लोभ की प्रबलता। व्यक्ति का लोभ प्रबल है। वह सारे धन को पचा लेना चाहता है किन्तु वह पचाया नहीं जा रहा है। लोभ के साथ भय भी बढ़ा है। लोभ और भय बढ़ेगे तो हार्ट अटैक की संभावनाएं प्रबल क्यों नहीं होंगी? इससे अकाल मृत्यु को सहज निंमत्रण मिल जाता है। यदि मरने वाले व्यक्तियों का लेखा-जोखा किया जाए तो सौ में से एक आदमी भी ऐसा शायद ही मिले, जिसने पूरा जीवन जिया हो। प्रत्येक व्यक्ति अकाल मृत्यु का ग्रास बन रहा है। यह है अज्ञान की समस्या। अगर आदमी ज्ञानी नहीं बनता है तो वह पूरा जीवन नहीं जी पाता।

त्रिकोण

आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार कलश में बहुत सुन्दर बात कही है—**एकमेवहि तत् स्वाद्यं विपदामापदं पदं।** अज्ञान विपदाओं का स्थान है। सारी आपत्तियां और विपत्तियां अज्ञान के कारण आती हैं। ज्ञान विपदाओं से मुक्त है, उसमें कोई आपत्ति नहीं आती। अज्ञान से पैदा होने वाली पहली आपत्ति है—अध्यवसाय की तीव्रता— अकाल मृत्यु। दूसरी आपत्ति है—लोभ। तीसरी आपत्ति है स्वार्थ। चौथी आपत्ति है क्रूरता। अज्ञानी आदमी स्वार्थी बन जाता है, वह केवल अपनी बात सोचता है। स्वार्थ, लोभ और क्रूरता—यह एक त्रिकोण है। जो लोभी है, वह स्वार्थी होगा। जो स्वार्थी है, वह लोभी होगा। लोभ और स्वार्थ—दोनों जुड़े हुए हैं। जो स्वार्थी और लोभी होता है, वह दूसरे के प्रति क्रूर बन जाता है। वह दूसरे की चिन्ता नहीं करता। उसके आचरण और व्यवहार से दूसरे की क्या स्थिति बनती है, इस बात से वह निरपेक्ष हो जाता है। उसमें ईमानदारी का अभाव हो जाता है। अनैतिकता और अप्रामाणिकता की आज जो समस्या है, उसका कारण खोजा जाए तो एक कारण प्रस्तुत होगा—अज्ञान

अज्ञान है प्रबल राग

हम अज्ञान शब्द को भी समझें। अज्ञान का मतलब अनपढ़ आदमी से नहीं है। जो पढ़ता है, वह ज्ञानी होता है, जो नहीं पढ़ता है, वह अज्ञानी

होता है। स्कूली शिक्षा के आधार पर यह भेदरेखा खींची जाती है किन्तु अध्यात्म की भाषा इससे सर्वथा भिन्न है। अध्यात्म की भाषा में अज्ञान है प्रबल राग। राग के कारण ही अनैतिकता की समस्या व्यापक बनती है।

एक सेठ अपनी दूकान पर जा रहा था। मार्ग में एक भिखारी मिला। उसने सेठ से कुछ देने की प्रार्थना की। सेठ ने जेब में हाथ डाला। एक सोने की गिन्नी निकाली और भिखारी के हाथ में थमा दी। सेठ आगे बढ़ गया। भिखारी ने देखा—यह सोने की गिन्नी है। वह सोच ही नहीं सकता था कि भिखारी को कोई सोने की गिन्नी दे सकता है। भिखारी लंगड़ाता-लंगड़ाता सेठ के पीछे चला। दूकान पर पहुंचा। उसने कहा—सेठजी! यह लीजिए, आपकी गिन्नी। शायद आपने भूल से रुपये के स्थान पर गिन्नी दे दी। सेठ यह सुनकर विस्मय से भर गया। उसने सोचा—यह आदमी भिखारी होकर कितना ईमानदार है! सेठ ने जेब से दूसरी गिन्नी निकालकर भिखारी को दे दी। भिखारी सेठ के इस व्यवहार पर मुग्ध था और सेठ उसकी ईमानदारी पर।

ज्ञान और ध्यान

नैतिकता और ईमानदारी ने भी एक भिखारी को चुना है। भिखारी जितना ईमानदार है, प्रामाणिक और नैतिक है, उतना सम्पन्न व्यक्ति नहीं है। जिसके मन में लोभ और स्वार्थ प्रबल नहीं है, वह हर आदमी ईमानदार और नैतिक हो सकता है। बेईमान, अनैतिक और अप्रमाणिक वही व्यक्ति होगा, जो स्वार्थी और लोभी है। स्वार्थ और लोभ क्रूरता को जन्म देते हैं। जिसके मन में क्रूरता का निवास है, वह समाज के निर्माण का नहीं, संहार का कारण बन सकता है।

इन सारी समस्याओं के मूल में अज्ञान है इसीलिए आचार्य ने इस बात पर बल दिया—ज्ञानी बनो। ज्ञान ही एक ऐसा रास्ता है, जिसके द्वारा समस्या का समाधान किया जा सकता है। हम इस बात को स्पष्ट समझें—ज्ञान और ध्यान—दो बातें नहीं हैं। जिस समय मन में राग और द्वेष का भाव नहीं होता है, उस समय ज्ञान होता है और उसी समय ध्यान होता है। राग-द्वेष मुक्त क्षण में जीने का नाम है ज्ञान। ज्ञान और ध्यान की दूरी मिटाना एक बहुत बड़ी आध्यात्मिक भूमिका है। इसमें आचार्य कुन्दकुन्द ने एक बड़ा योग दिया है। ज्ञान और ध्यान की दूरी का समाप्त होना महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। जैसे-जैसे यह ज्ञान और ध्यान की

दूरी मिटती है, वैसे-वैसे अज्ञान मिटता चला जाता है, चंचलता मिटती चली जाती है, जीवन की दिशा बदलती जाती है। इस स्थिति में जीवन में ऐसे अनेक नए आयाम खुल जाते हैं, जिनकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। □

संकलिका 3

- परमट्ठ बाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
  संसारगमणहेदुं वि, मोक्खहेदुं अजाणंता।।
- कम्ममसुहं कुसीलं, सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
  कहं तं होदि सुसीलं, जं संसारं पवेसेदि।।
- परमट्ठो खलु समओ, सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
  तम्हि ट्ठिदा सहावे, मुणिणो पावंति णिव्वाणं।।
- सम्मत्तपडिणिबद्धं, मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहियं।
  तस्सोदएण जीवो, मिच्छादिट्ठि त्ति णादव्वो।।
- णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहियं।
  तस्सोदएण जीवो, अण्णाणी होदि णादव्वो।।
- चारित्तपडिणिबद्धं, कसायं जिणवरेहिं परिकहियं।
  तस्सोदएण जीवो अचरित्तो होदि णादव्वो।।
- सोवण्णिय पि णियलं, बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
  बंधदि एवं जीवं, सुहमसुहं वा कदं कम्मं।।
- तम्हा दु कुसीलेहि य, रागं मा कुणह मा व संसग्गं।
  साहीणो हि विणासो, कुसीलसंसग्गरागेण।।

  (समयसार-१५४, १४५, १५१, १६१ - १६३, १४६, १४७)

- आकर्षण : विकर्षण
- सविकल्प चेतना : निर्विकल्प चेतना
- समस्या के तीन हेतु –
  - मिथ्यात्व
  - अज्ञान
  - कषाय
- समाधान : आत्मानुभूति की दिशा में प्रस्थान।

बंधन आखिर बंधन है

जीवन का तिनका : आकर्षण का प्रवाह

आकर्षण और विकर्षण—इन दो शब्दों के बीच में जीवन की यात्रा चल रही है। एक वस्तु के प्रति आकर्षण पैदा होता है और एक वस्तु के प्रति विकर्षण पैदा होता है, घृणा और द्वेष जागता है। विकर्षण एक समस्या है। आकर्षण उससे ज्यादा गहरी समस्या है। एक आकर्षण ने अनेक समस्याएं पैदा की हैं। पदार्थ के प्रति आकर्षण, सत्ता के प्रति आकर्षण, वस्त्र के प्रति आकर्षण, व्यक्ति के प्रति आकर्षण। चारों ओर आकर्षण ही आकर्षण। न जाने कितने आकर्षण है! ऐसा लगता है—जैसे आकर्षण के प्रवाह में जीवन का तिनका बहता चला जा रहा है। आदमी विकर्षण को समझ लेता है, उसे छोड़ने का प्रयत्न करता है किन्तु आकर्षण को छोड़ना बहुत कठिन होता है। धर्मशास्त्र में इन दो शब्दों के प्रतिनिधि शब्द हैं—पुण्य और पाप। यदि धार्मिक व्यक्ति पाप और पुण्य के चक्र में फंसा रहता है तो मानना चाहिए—वह सही अर्थ में धार्मिक नहीं है। जैसे ही व्यक्ति का अध्यात्म के क्षेत्र में प्रवेश होता है, पाप और पुण्य पर्दे के पीछे चले जाते हैं। यदि पाप और पुण्य पर्दे के पीछे नहीं जाते हैं तो सही अर्थ में धर्म का अवतरण नहीं होता, अध्यात्म की चेतना नहीं जागती।

विजातीय है पुद्गल

आचार्य कुन्दकुन्द ने अध्यात्म का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया—जैसे पाप हेय है, वैसे ही पुण्य भी हेय है। पुण्य और पाप—ये दोनों संसार के हेतु हैं, मोक्ष के हेतु नहीं हैं।

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं वि, मोक्खहेदुं अजाणंता।।

पुण्य और पाप के स्वभाव में अन्तर है, हेतु में अन्तर है और अनुभव में भी अंतर है किन्तु दोनों ही बंधनकारक हैं। पाप का हेतु है अशुभ

परिणाम और पुण्य का हेतु है शुभ परिणाम। पाप का स्वभाव है बुरा फल देना और पुण्य का स्वभाव है अच्छा फल देना। पाप एवं पुण्य का अनुभव भिन्न-भिन्न होता है। ये दोनों विजातीय हैं। आत्म-साक्षात्कार और परमात्मा का साक्षात्कार करने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति की दृष्टि में पुण्य और पाप—दोनों विघ्न हैं, विजातीय हैं। वे उसके सजातीय नहीं हो सकते। सजातीय हैं ज्ञान, दर्शन और चारित्र। विजातीय है पुद्गल। पुण्य भी पुद्गल है और पाप भी पुद्गल है। पुद्गल चाहे पुण्य के रूप में प्रकट हो, चाहे पाप के रूप में प्रकट हो, पुद्गल पुद्गल है और वह आत्मा को बांधने वाला है, चेतना को आवृत करने वाला है।

पुण्य का भोग : पाप का बंध

अध्यात्म का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—व्यक्ति को पुण्य के आकर्षण से मुक्त करना। हजारों वर्षों से पुण्य के प्रति व्यक्ति के मन में एक बड़ा आकर्षण रहा है। आदमी दो बातें चाहता है—सदा पुण्य बढ़ता रहे और पुण्य का फल मिलता रहे। वह इन दो बातों में उलझा हुआ है। जब तक मनुष्य इन दो बातों में उलझा रहेगा तब तक उसमें भय की चेतना जागेगी, अध्यात्म की चेतना नहीं जागेगी। जिस दिन यह बात समझ में आएगी कि पुण्य भी काम का नहीं है और पुण्य-फल की आंकाक्षा भी नहीं करनी चाहिए, उस दिन अध्यात्म का क्षण उपलब्ध होगा। जो व्यक्ति पुण्य के फल को भोगने लगता है, वह पाप का संकलन करता है। पुण्य के भोग से पाप का बंधन होता है। वह संसार का हेतु है, उसे सुशील कैसे कहा जा सकता है?

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
कहं तं होदि सुसीलं, जं संसारं पवेसेदि।।

विचार का चक्र

चेतना के दो प्रकार हैं—सविकल्प चेतना और निर्विकल्प चेतना। सविकल्प चेतना वह है, जिसमें एक के बाद दूसरा विकल्प उठता रहता है, एक के बाद दूसरा विचार आता रहता है। दिन भर विचारों और विकल्पों का तांता लगा रहता है। विकल्प ही विकल्प उभरते चले जाते हैं। कहीं विकल्पों का अंत ही नहीं होता। विचारों का सिलसिला कभी रुकता ही नहीं है। एक दिन में न जाने कितने विचार व्यक्ति के मानसपटल पर उतर आते हैं! कभी अच्छा विचार, कभी बुरा विचार, कभी लाभदायक, कभी हानिकारक, कभी हर्ष पैदा करने वाला और

कभी शोक पैदा करने वाला विचार पैदा हो जाता है। विचारों का एक चक्र है। आदमी का विचार बदलता ही चला जाता है। यदि सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक आने वाले विचारों का संकलन किया जाए तो संभवत: एक पुस्तक एक दिन में भर जाए। ये विचार या तो पाप के होते हैं, बुरे होते हैं या पुण्य के होते हैं, अच्छे होते हैं। व्यक्ति पुण्य और पाप के विचारों—विकल्पों से घिरा हुआ है। इसी विकल्प चेतना ने मनुष्य के विवेक को भी आहत किया है।

एक बार एक राजा टहलने निकला। बाहर जाने से पहले उसने मंत्री से पूछा—बीच में बरसात तो नहीं आयेगी?

मंत्री ने कहा—महाराज! बरसात के तो कोई लक्षण नहीं दिखते। यह सुनकर राजा अपने साथ छाता वगैरह कुछ न लेकर टहलने निकल गया। मार्गवर्ती एक खेत में एक बूढ़ा किसान पेड़ तले बैठा था, राजा ने उससे पूछा—'क्या तुम्हें लगता है कि आज पानी बरसेगा?'

किसान ने कहा—'निश्चय ही मुझे लग रहा है कि कोई आध घन्टे के अन्दर ही पानी बरसेगा?' राजा आगे बढ़ गया। आधा घंटा बीतते न बीतते पानी बरसने लगा। राजा के पास बचने का कोई साधन नहीं था। वह भींगता-भींगता वापस आया। राजा ने मंत्री से कहा— आप मंत्री पद के तनिक लायक नही। आप इतना भी नहीं बता सकते कि पानी बरसेगा या नहीं, तो फिर राज्य की इतनी बड़ी जिम्मेवारी कैसे संभाल पायेंगे? आप से ज्यादा बुद्धिमान् तो वह किसान है। उसने मुझे बरसात की ठीक जानकारी दी। मैं आपकी जगह उसको मंत्री नियुक्त करता हूं।'

राजा ने किसान को बुलाकर कहा—'तुमने मुझे पानी बरसने की ठीक जानकारी दी। तुम समय को परख सकते हो। इसलिए मैं तुम्हें मंत्री बनाता हूं।

किसान ने कहा— 'महाराज, मुझको तो पानी बरसने का अंदाज अपने गधे के कारण मिला। जब पानी बरसने को होता है, गधा अपना कान झुका लेता है। मैंने गधे को देखकर ही पानी बरसने की बात बताई थी।'

किसान की बात सुनकर राजा ने कहा— 'तब तो तुम्हारा गधा मंत्री पद के लिए अधिक योग्य है। मैं उसी को अपना मंत्री बनाता हूं।'

जो व्यक्ति विकल्प में उलझता चला जाता है, उसके सामने गधे को मंत्री बनाने का प्रसंग भी प्रस्तुत हो जाता है।

निर्विकल्प चेतना

धर्म या अध्यात्म है निर्विकल्प चेतना। उसमें कोई विचार, चिन्तन या विकल्प नहीं होता। केवल आत्मा का अनुभव है निर्विकल्प चेतना। आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्म-दर्शन पर बहुत अधिक बल दिया। उन्होंने कहा— केवल आत्मा को देखो। आत्मा ही समय है, आत्मा ही शुद्ध है, आत्मा ही केवली है, आत्मा ही मुनि है, आत्मा ही ज्ञानी है। आत्मा में स्थित व्यक्ति ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

परमट्ठो खलु समओ, सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तम्हि ट्ठिदा सहावे, मुणिणो पावंति णिव्वाणं।।

समस्या-मुक्ति का मार्ग

प्रश्न होता है— आत्मा पर इतना बल क्यों दिया गया? सारे संसार की समस्याओं का अध्ययन किया गया तो पता चला— आत्मा के सिवाय इन समस्याओं का इस दुनिया में कोई समाधान नहीं है। आत्मा को जानकर ही व्यक्ति इन समस्याओं का समाधान पा सकता है। जो व्यक्ति आत्मा को जानने की दिशा में कदम नहीं बढ़ाता, वह समस्याओं के चक्र से मुक्ति नहीं पा सकता। वह एक समस्या को मिटाता है और अनेक समस्याओं को पैदा कर लेता है। आत्मा का दर्शन या आत्मा का साक्षात्कार ऐसा मार्ग है, जिससे अनेक समस्याएं एक साथ सुलझ जाती हैं, समाप्त हो जाती हैं। 'आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो'— इस बात पर अकारण ही बल नहीं दिया गया, चिन्तनपूर्वक और प्रज्ञापूर्वक इस बात पर बल दिया गया है। कहा गया— यदि तुम ढेर सारी समस्याओं का समाधान चाहते हो, जीवन में दुःख और समस्याओं से मुक्ति चाहते हो तो उसका सीधा रास्ता है आत्म-दर्शन। जिसने अपनी आत्मा को जानने का प्रयत्न किया है, उसने समस्याओं का पार पाया है।

समस्या के तीन हेतु

समस्याओं के मुख्यतः तीन हेतु हैं— मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय। आचार्य कुन्दकुन्द ने इस सन्दर्भ में बहुत सुन्दर मार्गदर्शन किया है। उन्होंने लिखा— सम्यक्त्व का प्रतिबंधक है मिथ्यात्व, ज्ञान का प्रतिबंधक है अज्ञान और चरित्र का प्रतिबंधक है कषाय।

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठि त्ति णादव्वो।।

णाणस्स पडिणिबद्धं, अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो, अण्णाणी होदि णादव्वो।।
चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदएण जीवो, अचरित्तो होदि णादव्वो।।

मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय ये तीन हमारे जीवन के सबसे बड़े विघ्न हैं, समस्या और दु:ख की सृष्टि करने वाले हैं। जब तक व्यक्ति का दृष्टिकोण सही नहीं होता, तब तक समस्या का चक्र अनवरत घूमता रहता है। जीवन की बहुत सारी समस्याएं मिथ्या दृष्टिकोण के कारण पैदा होती हैं। व्यक्ति का दृष्टिकोण सही नहीं है। वह हर बात को उल्टा देखता है। मिथ्या दृष्टिकोण के कारण व्यक्ति रस्सी को सांप समझ लेता है। वह भयग्रस्त होकर भागने लगता है, डर के मारे चिल्लाने लगता है। सीपी पर सूर्य की किरणें पड़ती हैं, वह चमकने लग जाती है। व्यक्ति उसे चांदी का टुकड़ा समझ लेता है और उसे पाने के लिए लालायित हो जाता है। जब कच्छ के थार पर सूर्य की किरणें पड़ती हैं तब ऐसा लगता है– चारों ओर पानी ही पानी है, तालाब ही तालाब है। यदि उसके भरोसे व्यक्ति गर्मी की मौसम में यात्रा पर निकल जाए तो क्या होगा? ज्यों-ज्यों व्यक्ति आगे बढ़ेगा, पानी आगे सरकता चला जाएगा, तालाब दूर होता दिखाई देगा। इसका नाम है– मृग-मरीचिका। बेचारा हरिण उस थार में पानी की आशा में दौड़ता है, दौड़ता ही चला जाता है और आखिर में वह प्यास से व्याकुल बना हुआ अपने प्राण गंवा देता है किन्तु उसे पानी की एक भी बूंद प्राप्त नहीं होती।

सुख : तीन बाधाएं

जब तक दृष्टिकोण सही नहीं होता, तब तक यह मृग-मरीचिका व्यक्ति को सताती रहती है। वह सुख की चाह में निकलता है और दु:ख को पैदा करता जाता है। जो व्यक्ति अपने भीतर ठहर जाता है, न जाने उसमें क्या रासायनिक परिवर्तन होता है, वह सुख का अनुभव करने लग जाता है। जिस व्यक्ति ने अपने शरीर को स्थिर कर लिया, वाणी को स्थिर कर लिया, मन को स्थिर कर लिया, वह सुख की दिशा में प्रस्थित हो गया। जब ये तीनों स्थिर होते हैं, भीतर की चेतना जागने लगती है, आत्मा से साक्षात्कार होना शुरू हो जाता है। सुख में तीन बाधाएं हैं– मन की चंचलता, वाणी की चंचलता और शरीर की चंचलता। जब तक ये बाधाएं बनी हुई हैं तब तक कभी सुख का अनुभव नहीं हो सकता। सुख हमारे भीतर छिपा पड़ा है। जरूरत है उसे जगाने की।

अकल्पनीय सुख

हवाई युनिवर्सिटी में पॉलिटिकल साइंस के एक प्रोफेसर हैं— ग्लेनपेज। वे प्रेक्षाध्यान शिविर में भाग ले रहे थे। एक दिन रात्रि में उन्होंने ध्यान का प्रयोग किया। प्रयोग के तत्काल बाद वे मेरे पास आए, बोले— आज मैंने जिस सुख और शांति का अनुभव किया है, वैसे सुख और शांति की कल्पना हम अमेरिकन लोग स्वप्न में भी नहीं कर सकते।

मैंने पूछा— क्या आपको खाने-पीने में ऐसा पदार्थ मिला है, जिससे सुख की अनुभूति हुई?

नहीं।

मैंने पुन: पूछा— सुख का कारण क्या बना?

ग्लेनपेज बोले—ध्यान।

कैसे मिला?

ध्यान से अपूर्व सुख मिला है, यह सचाई है किन्तु कैसे मिला, इसकी व्याख्या मैं नहीं कर सकता।

हमारे शरीर के भीतर विद्युत् है। जब वह सक्रिय होती है, व्यक्ति को बड़ा सुख मिलता है। हमारे भीतर विद्युत् की अनेक तरंगें हैं। जब-जब अल्फा तरंगें— एल्फा वेव्ज तरंगित होती हैं, व्यक्ति को इतना सुख मिलता है, जितना संसार के किसी भी पदार्थ से नहीं मिल पाता। हमारे भीतर ऐसे-ऐसे रसायन हैं, जो व्यक्ति को अपार सुख में डुबो सकते हैं। एकाग्रता के द्वारा, ध्यान के द्वारा, भक्ति के द्वारा, आंतरिक चेतना के विकास के द्वारा ऐसे रसायन पैदा होते हैं और उनसे जो सुख मिलता है, वैसा सुख और किसी पदार्थ से कभी नहीं मिलता।

पदार्थ और सुख

सूत्रकृतांग सूत्र की चूर्णि में लिखा है— जब ईर्यापथिकी क्रिया (कषायमुक्त क्रिया) का विकास होता है, तब अनुपम सुख का अनुभव होता है। दो प्रकार की क्रियाएं हैं— ईर्यापथिकी और सांपरायिकी। ईर्यापथिकी क्रिया कषाय-मुक्त होती है और सांपरायिकी क्रिया कषाय-संवलित होती है। ईर्यापथिकी क्रिया में जो सुख है, उससे हम आंखें मूंदे हुए हैं। जहां सुख नहीं है, उसके पीछे हम दौड़ते चले जा रहे हैं। यह है मिथ्या दृष्टिकोण। जब तक यह दृष्टिकोण नहीं बदलेगा, सुख

की कल्पना साकार नहीं बन पाएगी। व्यक्ति को पदार्थ मिल सकता है, धन मिल सकता है, सुविधा मिल सकती है किन्तु सुख मिल सकता है— यह कहना बहुत कठिन है। हमने ऐसे लोगों को देखा है, जो करोड़पति हैं किन्तु उनके दुःख की कोई सीमा नहीं है। मैंने अरबपति व्यक्ति को अपनी आंखों के सामने रोते हुए देखा है, दुःख से बिलखते हुए देखा है। जिसका दृष्टिकोण सम्यग् नहीं बना, वह सब कुछ पाकर भी गरीब का गरीब बना रहता है और जिसे सम्यग् दर्शन मिल जाता है, वह बादशाह बन जाता है।

फकीर कौन?

शहर में एक फकीर आया हुआ था। सब लोग उसके दर्शन करने जा रहे थे। राजा ने फकीर की चर्चा सुनी। वह भी फकीर के दर्शन करने गया। उसने देखा— फकीर के तन पर पूरे कपड़े भी नहीं हैं। राजा बोला— महाराज! आप बहुत गरीबी में जी रहे हैं। मेरे राज्य में इतना गरीब आदमी कोई नहीं है। मैं आपको कुछ भेंट करना चाहता हूं। फकीर मौन रहा। राजा ने सोनैयों से भरे थाल फकीर के सामने रखे और कहा— 'महाराज! आप मुझे ऐसा आशीर्वाद दें, जिससे मेरा राज्य बना रहे, मेरा राज्य बढ़ता रहे, मेरा ऐश्वर्य सदा वृद्धिगत होता रहे। फकीर ने कहा— मुझे कुछ नहीं चाहिए। तुम मेरे सामने से हट जाओ। तुम बताओ— जो मांगता है, वह गरीब होता है या जो नहीं मांगता, वह गरीब होता है। राजा यह सुनकर स्तब्ध रह गया।

दुःख-मुक्ति का पहला सूत्र : सम्यग्दर्शन

जिस व्यक्ति में सम्यग्दृष्टि की चेतना जाग जाती है, वह दुनिया का बादशाह बन जाता है। जिसका दृष्टिकोण मिथ्या बना रहता है, वह सब कुछ पाकर भी फकीर बना रहता है। जब तक आत्म-दर्शन नहीं होता तब तक मिथ्या दृष्टिकोण नहीं बदलता और इसी मिथ्या-दृष्टिकोण ने सम्यग्दर्शन की चेतना को बांध रखा है। यही हमारे विकास में बाधा बना हुआ है, हमारी दृष्टि को विपरीत बनाए हुए है। जहां सुख नहीं है, वहां सुख दिखाई देता है और जहां सुख भरा हुआ है, वहां सुख दिखाई नहीं देता। व्यक्ति में ऐसी मूर्च्छा पैदा हो जाती है कि कुछ पता ही नहीं चलता। जो अपना है, उसे वह पराया मानता चला जाता है और जो पराया है, उसे अपना मानता चला जाता है। यह भ्रांति न जाने कितने दुःखों की सृष्टि कर रही है। समस्या और दुःख मुक्ति का पहला सूत्र है—

सम्यग् दृष्टिकोण जागे, मिथ्या दृष्टिकोण बदले। जो जैसा है, हम उसे वैसा ही समझें। हमारा ज्ञान विपरीत न बने। यदि ऐसा होता है तो दुःख-मुक्ति की दिशा में हमारा प्रस्थान हो जाता है।

अज्ञान से प्रतिबंधित है ज्ञान

समस्या का एक हेतु है— अज्ञान। अपने आपको जानने में हमारा अज्ञान बाधक रहा है। अज्ञान इतना गहरा बना हुआ है कि हमें अपना प्रकाश दिखाई ही नहीं देता। अपने भीतर कितना प्रकाश है, इसका हमें पता नहीं है। जब प्रज्ञा जागती है, तब पता चलता है— कितना ज्ञान हमारे भीतर है। अभी तक वह पुस्तकों में अटका हुआ है। व्यक्ति सोचता है— विद्यालय में जाएंगे, पुस्तकें पढ़ेंगे तो ज्ञान मिलेगा। विद्यालय में नहीं जाएंगे, पुस्तकें नहीं पढ़ेंगे तो ज्ञान नहीं मिलेगा, अज्ञानी ही बने रहेंगे। न जाने कितने लोग विद्यालय, महाविद्यालय और विश्वविद्यालय में पढ़कर भी अज्ञानी बने हुए हैं और वे सारी दुनिया को तबाह कर रहे हैं। वास्तव में ज्ञान अपने भीतर होता है। दुनिया के जितने भी बड़े-बड़े वैज्ञानिक हुए हैं, जितने बड़े-बड़े आविष्कार हुए हैं, वे सब अन्तर्ज्ञान के क्षणों में संभव बने हैं। उनसे पूछा गया— आपने यह कैसे किया? यह कैसे सोचा? उन्होंने उत्तर दिया— हमने सोचा ही नहीं। बस, अकस्मात् घटित हो गया। कैसे हुआ, यह पता नहीं है। आईंस्टीन ने कहा था— वह सापेक्षवाद का सिद्धांत कहां से आया— मुझे पता नहीं है किन्तु वह प्राप्त हो गया। इसका कारण है अंतर्ज्ञान। आज के मस्तिष्क-विज्ञानी बतलाते हैं— मस्तिष्क में जितनी शक्ति है, व्यक्ति उसके पांच-दस प्रतिशत भाग का ही उपयोग कर पाता है। शेष शक्ति पर उसका ध्यान ही नहीं जाता। जब तक आत्मिक ज्ञान प्राप्त नहीं होता, भीतर की चेतना नहीं जागती तब तक केवल बाहर के ज्ञान पर भरोसा कर जीना पड़ता है। इस अज्ञान ने हमारे ज्ञान को प्रतिबंधित बना रखा है और यही समस्या का कारण बना हुआ है।

कषाय से प्रतिबंधित है चरित्र

समस्या का एक हेतु है कषाय। व्यक्ति के पास एक शक्ति है चारित्र की, सम्यक् आचरण की। सम्यक् आचरण कषाय से प्रतिबंधित है। क्रोध जागता है, सम्यक् आचरण उसके नीचे दब जाता है। अहंकार जागता है, सम्यक् आचरण उसके नीचे दब जाता है। माया और लोभ जागते हैं, सम्यक् आचरण उनके नीचे दब जाता है। व्यक्ति विकल्पों से

घिर जाता है। विकल्पों को पैदा करने में कषाय अहम भूमिका निभाता है। जब तक क्रोध और अहंकार प्रबल है, माया और लोभ जागृत हैं तब तक विचारों का सिलसिला रुकेगा नहीं। जो विचार आते हैं, उन्हें आने दिया जाए। विचार आ रहे हैं, यह चिन्ता का विषय नहीं होना चाहिए। हमारा चिन्तन यह बने—हम विचारों के साथ बह न जाएं। जो व्यक्ति विचार या विकल्प का रेचन करना नहीं जानता, उन्हें अपने भीतर स्थान दे देता है, वह विचारों से मुक्ति नहीं पा सकता। व्यक्ति अपना ही घर किराएदार को दे देता है तो उसे छुड़ाना मुश्किल हो जाता है। न जाने कितने किराएदारों को हमने अपने भीतर स्थान दे रखा है और वे हमारे चारित्र को बाधित किए हुए हैं। जब तक कषाय को कम नहीं किया जाता— क्रोध, मान, माया और लोभ का उपशमन नहीं किया जाता तब तक सम्यक् आचरण की संभावना नहीं की जा सकती, नैतिक और प्रामाणिक व्यवहार की आशा नहीं की जा सकती।

पुण्य की वांछा भी पाप है

मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय— विकास में ये तीन बाधाएं हैं। इनको दूर करने वाला व्यक्ति ही आत्म-साक्षात्कार की बात कर सकता है। जब तक ये तीनों विघ्न विद्यमान हैं, आत्म-दर्शन की बात सार्थक नहीं बनती।

कहा गया— पुण्य की इच्छा मत करो। अज्ञानी पुण्य की इच्छा करता है। पाप की इच्छा कोई नहीं करता। व्यक्ति न पाप की इच्छा करता है और न पाप का फल चाहता है। सभी पुण्य की आकांक्षा करते हैं। आचार्य भिक्षु ने लिखा — **पुण्य तणी इच्छा कियां लागै पाप एकान्त**— जो पुण्य की इच्छा करता है, उसे एकान्त पाप लगता है। प्रश्न हुआ— किसकी इच्छा करें। कहा गया— केवल निर्जरा की इच्छा करो, परमार्थ की इच्छा करो। आत्मशुद्धि की इच्छा करो, पुण्य की इच्छा मत करो। अनेक आचार्यों ने इस बात पर बहुत बल दिया। इस परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द का नाम लिया जा सकता है, आचार्य भिक्षु का नाम लिया जा सकता है। कुछेक आचार्य ऐसे हुए हैं, जिन्होंने शुद्ध आध्यात्मिक चेतना के विकास पर बल दिया है। उन्होंने पुण्य और पाप को बंधन के रूप में प्रस्तुत कर उनसे अलग होने का सूत्र प्रस्तुत किया है।

सोवण्णियं पि णियलं, बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं।।
तम्हा दु कुसीलेहि य रागं मा कुणह मा व ससग्गं।।
साहीणो हि विणासो, कुसीलसंसग्गरागेण।।

शब्दातीत चेतना का विकास

पुण्य का बंधन बहुत जटिल बंधन है। जो व्यक्ति इस बंधन का अनुभव नहीं करता, वह धर्म और अध्यात्म की दिशा में विकास नहीं कर सकता। हमें अगर वर्तमान जीवन में अध्यात्म का अवतरण करना है, समस्याओं को सुलझाना है तो एक अभ्यास करना होगा— जीवन की यात्रा में पुण्य और पाप— दोनो को भोगते हुए भी शब्दातीत चेतना का विकास करना होगा, आत्मानुभव की दिशा में प्रस्थान करना होगा। यही एक मार्ग है, जहां हजारों समस्याएं एक साथ सुलझ जाती हैं। जिस दिन निर्विकल्प चेतना को जीने का मार्ग हमारे सामने आएगा, उस दिन समस्याओ से छुटकारा पाने का मार्ग हमारे हाथ में आ जाएगा। पुण्य और पाप के चक्कर में फंसा हुआ आदमी आत्मा और परमात्मा की बात सुने, यह बहुत मुश्किल है। जो व्यक्ति शब्दों, विचारों और विकल्पो से परे जाने का मंत्र सीख लेता है, वह आत्म-साक्षात्कार और आत्मानुभूति की दिशा में प्रस्थित हो जाता है। □

संकलिका 4

- जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणो वि परिणमदि।
  अण्णत्त णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो।।
- दसणणाणचरित्त ज परिणमदे जहण्णभावेण।
  णाणी तेण दु बज्झदि पोग्गलकम्मेण विविहेण।।
- रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स।
  तम्हा आसवभावेण ,वेणा हेदू ण पच्चया होंति।।
  (समयसार- १७१, १७२, १७७)
- रागद्वेषविमोहान ज्ञानिनो यदसभवः।
  तत एव न बधोस्य ते हि बधस्य कारणम्।।
- दो कक्षाए–
  सराग
  वीतराग
- भ्रान्त दृष्टिकोण
- 'जघन्य' महत्त्वपूर्ण शब्द
- जरूरी है आत्म-विश्वास
- ज्ञाताभावः द्रष्टाभाव
- क्रोध को सफल न बनाए
- विजय का रहस्य

दिन और रात का द्वन्द्व

सूरज आता है, दिन हो जाता है। सूरज अस्त होता है, रात हो जाती है। यह दिन और रात का होना सूरज का पाखण्ड नहीं है। यह एक प्रकृति का अनिवार्य नियम है। जीवन मे भी कभी दिन आता है, कभी रात आती है। कभी प्रकाश आता है, कभी अंधकार आता है। हम इसे पाखण्ड क्यों मानें हम यह क्यों आशा करें कि एक व्यक्ति हमेशा एक जैसा रहे। हम चाहते हैं—व्यक्ति एक जैसा रहे, उसका आचरण प्रकाश जैसा रहे, अंधकार जैसा न रहे। इस चाह के पीछे प्रकृति का नियम नही है। प्रकृति का नियम कुछ और है। उसमें एक जैसा कोई होता ही नहीं। जो एक जैसा होता है, वह दूसरी कक्षा मे जाकर होता है।

दो कक्षाएं

अध्यात्म के क्षेत्र में दो कक्षाएं हैं—सराग कक्षा और वीतराग कक्षा। वीतराग कक्षा मे जो व्यक्ति पहुच जाता है, वह एक जैसा रहता है। दिन हो या रात, प्रकाश हो या अंधकार, व्यक्ति अकेला रहे या परिषद् में कोई अन्तर नही आता। वीतराग दशा सम दशा है, उसमें कोई, परिवर्तन नही आता। इसका नाम है यथा-ख्यात चारित्र। यथाख्यात का अर्थ है—कथनी और करनी की समानता। इस स्थिति में व्यक्ति जैसा भीतर होता है, वैसा ही बाहर रहता है। जैसा बाहर होता है, वैसा ही भीतर रहता है। जो कहता है, वही करता है और जो करता है, वही कहता है। यह पूरी समानता वीतराग के लिए संभव है किन्तु जो पहली कक्षा है, सराग की कक्षा है, उसमे यह बात सभव नहीं है। उसमें उतार-चढ़ाव आता रहता है, अलगाव आता रहता है।

नया पहलू

प्रश्न होता है—जब अन्तर आता रहता है तब व्यक्ति साधना क्यों करे? व्यक्ति ने आधा घंटा ध्यान का प्रयोग किया। वह शान्ति और समता में रहा, वीतराग जैसी स्थिति में रहा। ध्यान का प्रयोग पूरा हुआ, वह घर पर गया, दुकान और ऑफिस में गया, स्थिति बदल गई। प्रश्न

है—क्या यह पाखण्ड नहीं है? व्यक्ति आधा घण्टा वीतराग बना किन्तु उसके पश्चात् सारी सराग की स्थितियां आ जाएं, यह दोहरा व्यक्तित्व पाखंड के अलावा कुछ नही है। कुछ समय के लिए एकाग्रता की साधना और शेष दिन में विषमता की प्रवृत्तियां। इस प्रश्न पर गहरे में उतरकर विचार करें तो एक नया पहलू सामने आता है, एक नई ज्योति सामने आती है, वह पहलू हैं—जब तक हमारा ज्ञान, दर्शन और चारित्र जघन्य श्रेणी में है तब तक ऐसा होना स्वाभाविक है। यह एक नियम है।

आचार्य कुन्दकुन्द का कथन

आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा—जघन्य ज्ञान, दर्शन और चारित्र में कर्म का दण्ड होगा।

जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणो वि परिणामदि।
अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो।।
दंसणणाणचरित्त जं परिणमदे जहण्णभावेण।।
णाणी तेण दु बज्झदि पोग्गलकम्मेण विविहेण।।

दूसरी ओर उन्होने कहा—ज्ञानी और सम्यक् दृष्टि के कर्म का बंध नही होता।

रागो दोसो मोहो य. आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स।
तम्हा आसवभावेण विणा, हेदू ण पच्चया होंति।।
रागद्वेषविमोहाना, ज्ञानिनो यदसंभवः।
तत एव न बधोस्य, ते हि बधस्य कारणम्।।

यदि व्यक्ति ज्ञानी बन गया, सम्यक् दृष्टि बन गया तो उसके कर्म का बंध नही होगा। इसका अर्थ है, वह चाहे सो करे, यह प्रश्न है। एक ऐसा मिथ्यावाद भी कुछ लोगो ने फैलाया है। ऐसा लगता है—उन्होंने आचार्य कुन्दकुन्द की भाषा को समग्रता से नही पढा। आचार्य कुन्दकुन्द की भाषा मे सम्यक् दृष्टि और ज्ञानी वह व्यक्ति है, जिसका चारित्र यथाख्यात हो गया। जिसे केवलज्ञान प्राप्त हो गया, केवलदर्शन प्राप्त हो गया, उसके कर्म का बंध नही होता, कषायजनित कर्म का बध नहीं होता। यह बात समझी जा सकती है किन्तु एक शब्द को पकड़कर आदमी उलझ जाता है। वह सोचता है—मै सम्यक् दृष्टि बन गया, अब चाहे सो करूं, कर्म का बन्ध तो होगा नहीं। यह बहुत बड़ा भ्रम है।

विकास का प्रश्न

एक ओर कहा गया—ज्ञानी और सम्यक् दृष्टि के कर्म का बंध नहीं

होता, वह निराश्रव होता है, उसके आश्रव नहीं होता तो दूसरी ओर कहा गया—जिसका ज्ञान-दर्शन और चरित्र जघनय होता, उत्कृष्ट नहीं होता, वह कभी तो ध्यान की साधना करता है, कभी समता की साधना करता है, कभी तपस्या करता है और कभी उसके विपरीत आचरण करना शुरू कर देता है।

कारण यह है—जब तक जघन्य ज्ञान है, हम निर्विकल्प या समता की अवस्था में या ध्यान की एक धारा में ४८ मिनट से ज्यादा रह नही सकते। ४८ मिनट के बाद हमारे परिणामों की श्रेणी बदल जाती है। ध्यान में बैठा व्यक्ति ४८ मिनट तक एक पवित्र धारा में रह सकता है। उसके बाद ध्यान की स्थिति बदल जाती है। वह निर्विकल्प अवस्था मे होता है तो सविकल्प अवस्था में आ जाता है। हमें विकास की यात्रा करनी है। हम यह मानकर न चलें कि कहीं पहुंच गए हैं। जिसने दस वर्ष मे साधना शुरू की है, वह अभी विकास की यात्रा में है। न जाने कितने संस्कारो का भार हमारे मस्तिष्क पर पड़ा हुआ है। हम एक छलांग मे सिद्ध बन जाए, सराग से वीतराग बन जाएं, यह कभी भी संभव नहीं है।

धारण बदले

जब कोई साधक कही चूकता है, लोग आश्चर्य करते हैं। वे इस बात को भूल जाते हैं कि वह अभी सिद्ध नहीं बना है, वीतराग नहीं बना है, सराग है, उसकी साधना राग-द्वेषयुक्त चेतना वाली साधना है। वहां हो सकता है—चलते-चलते वह कभी लड़खड़ा जाए, कभी गिर जाए, कभी उठ जाए और फिर संभल जाए। न जाने कितनी बार जीवन में ऐसा होता है और न जाने कितने जन्मों मे यह क्रम चलता रहता है। ऐसा करते-करते ही वह एक दिन वीतराग की कक्षा में पहुंचता है, जहां पहुंचने पर सारी स्थितिया समाप्त हो जाती हैं, सारी विषमताएं समाप्त हो जाती हैं। व्यक्ति पहले ही दिन यह सोचकर बैठ जाए—मैं तो वैसी साधना करूंगा, जिसमें कोई कठिनाई न आए और मैं सीधा वीतराग बन जाऊ। वह कभी साधना नही कर पाएगा। साधना के प्रारंभ में कठिनाइयां आती हैं और व्यक्ति कठिनाइयों को पार करता चला जाता है तो उन्हें पार करते-करते एक दिन वह अवस्था आती है, कठिनाइयां समाप्त हो जाती हैं, व्यक्ति सराग अवस्था को पार कर वीतराग बन जाता है।

धारणा का परिणाम

मुझे लगता है कि साधना के प्रति हमारी धारणाएं सम्यग् नहीं हैं। जब दृष्टिकोण सही नहीं होता है तब बहुत भ्रांतियां पनपती हैं। जब धारणा में भ्रान्ति होती है, सारी स्थिति बदल जाती है।

एक व्यक्ति ने सैकड़ों लोगों को भोज पर आमंत्रित किया। एक व्यक्ति का पेट खराब था, आंतें खराब थीं। वह भोज में जा रहा था। रास्ते में वैद्यजी मिल गए। उसने कहा—वैद्यजी महाराज! भोज में जा रहा हूं।

क्या खाओगे?

लड्डू।

लड्डू तो जहर है।

जो दूसरे लोग जा रहे थे, उन्होंने सुना—लड्डू जहर है। एक व्यक्ति ने दूसरे से बात की। जो भोज दे रहा है, उसके लड्डू मे तो जहर है। यह बात ऐसी फैली कि भोज देने वाला प्रतीक्षा ही करता रहा। एक भी व्यक्ति भोजन करने नहीं आया।

धारणा में कितना अन्तर आ गया। रोगी के लिए लड्डू जहर हो सकता है, सब लोगों के लिए नहीं। गलत धारणाओं को पालने वाला व्यक्ति चल ही नहीं सकता। बहुत बार लोग सोचते हैं—यह बात पूरी हो जाए तो हम जाएं, नहीं तो नहीं जाएं। वे यह नहीं सोचते—कोई काम शुरु नहीं होगा तो पूरा होने का प्रश्न ही कहां से आएगा?

असफलता का कारण

एक बहुत बड़ी समस्या का समाधान आचार्य कुन्दकुन्द ने जघन्य शब्द के द्वारा किया। ज्ञान का विकास, दर्शन का विकास और चारित्र का विकास एक छलांग में नहीं होता, एक साथ नहीं होता। एक साथ एक अल्पज्ञानी व्यक्ति केवली नहीं बनेगा, एक साथ एक रागी आदमी यथाख्यात चारित्र वाला वीतराग नहीं बनेगा। साधना करते-करते ज्ञान, दर्शन और चारित्र का विकास होता है। जैसे-जैसे कषाय कम होगा, हमारा चारित्र आगे बढ़ेगा पर वह क्रमिक होगा, पुरुषार्थ की साधना के द्वारा होगा। साधना के क्षेत्र में व्यक्ति यह सोचे—मैं यह काम कर रहा हूं पर पता नहीं क्या होगा? वह कभी सफल नहीं हो पाएगा। राजनीति के आचार्य चाणक्य और सोमदेव सूरी ने इस संदेह को असफलता का बहुत बड़ा कारण माना है। एक आदमी ने किसान से पूछा—खेती नहीं करोगे?

किसान ने कहा—क्या करूं? खेती करूंगा तो हिरण बिगाड़ देंगे। क्या पता, वर्षा होगी या नहीं?

सफलता का सूत्र

जो खेती नहीं करेगा, वह कभी अनाज पैदा नहीं कर पाएगा। जो व्यक्ति खतरे मोल लेता है, आत्मविश्वास के साथ अपना काम करता है, निष्ठा और दृढ़ विश्वास के साथ आगे बढ़ता है, कहीं रुकावट आती है तो भी वह सफल हो जाता है। जिसमें अध्यवसाय है, निष्ठा है, वह सारी कठिनाइयों को पार कर आगे बढ़ जाता है। जो बाधाओं के भय से पड़ा रहता है, वह सोया का सोया रह जाता है।

हमें पहुंचना है जघन्य ज्ञान से उत्कृष्ट ज्ञान तक। मति-श्रुत से केवलज्ञान तक, जघन्य दर्शन से उत्कृष्ट दर्शन तक, चक्षु और अचक्षु दर्शन से केवलदर्शन तक। हमें पहुंचना है उत्कृष्ट चारित्र तक। जो सामायिक की सामान्य साधना है, उससे लेकर वीतराग चारित्र तक, सराग चारित्र से वीतराग चारित्र तक। वहां तक पहुंचने के लिए एक अध्यवसाय, निरंतरता और आशा का होना आवश्यक है। जो व्यक्ति निराश हो जाते हैं, वे जीवन में सफल नहीं होते। जिन्होंने साधना शुरू की, सफलता नहीं मिली और निराश हो गए, वे कभी साधना में सफल नहीं हुए। जिसमें दृढ़ आस्था होती है, वही सफल हो सकता है।

विधायक दृष्टिकोण : आशावादिता

एक बूढ़ा साधक साधना कर रहा था। उधर से नारदजी निकले। साधक ने पूछा—आप कहां जा रहे हैं? नारदजी ने कहा—मैं भगवान् के पास जा रहा हूं। कोई काम हो तो बताओ। साधक ने कहा—भगवान् से पूछना, कितने जन्मों के बाद मुझे मुक्ति मिलने वाली है? मेरी साधना को देखते हुए लगता है—इसी जन्म में मैं मुक्त हो जाऊंगा। नारद ने कहा—ठीक है। वह आगे बढ़ा। एक नए संन्यासी ने भी नमस्कार कर अपना प्रश्न रखा—मैंने मुक्ति के लिए साधना शुरू की है, मैं जानना चाहता हूं कि मेरी मुक्ति कब होगी? नारद चले गए। दूसरे दिन वापिस आए। बूढ़े साधक से मिले। साधक ने पूछा—मेरा काम कर दिया।

हां।

बताएं, मेरी मुक्ति कब होगी?

भगवान् ने कहा है—तीन जन्मों के बाद तेरी मुक्ति होने वाली है।

तीन जन्म!! साधक गुस्से में बोल उठा—भगवान् झूठा है।

नारद आगे बढ़े। नए संन्यासी के पास गए। प्रश्न का समाधान प्रस्तुत किया। भगवान् ने कहा है-जिस बरगद के नीचे तुम साधना कर रहे हो, उसके जितने पत्ते हैं, उतने जन्मों के बाद तुम्हारी मुक्ति होगी। यह सुनते ही संयासी नाचने लगा, खुशी से झूम उठा। वह बोला—भगवान् ने क्या बात कही है! आप कितना अच्छा समाचार लाए हैं! मैं धन्य हो गया।

नारदजी आश्चर्य में पड़ गए। वृद्ध संन्यासी रोने लग गया और यह युवा संन्यासी खुशी से झूमने लगा। नारदजी ने नए संन्यासी से पूछा—तुम नाच रहे हो? क्या पागल हो?

नहीं! प्रभु की बड़ी कृपा है। दुनिया में हजारों बरगद के पेड हैं। यह अच्छा हुआ कि एक ही बरगद के पेड़ का उल्लेख किया है। अगर संसार भर के सारे पेड़ होते तो मैं मारा जाता।

आशा का भाव

मनोविज्ञान की भाषा में यह विधायक दृष्टिकोण है और अध्यात्म की भाषा में आशावादिता है। एक आशा का भाव है, जिसके कारण व्यक्ति प्रत्येक तथ्य को विधायक दृष्टि के रूप में स्वीकार करता है।

श्रेणिक को पता चला—मरकर नरक में जाना है, वह बड़ा निराश हुआ। उसे दूसरा संवाद मिला—नरक के बाद श्रेणिक तीर्थंकर बनेगा। श्रेणिक ने कहा – कोई बात नही है, यह नरक में जाना थोडी-सी समस्या है। मैं इसे पार कर जाऊंगा। वह आने वाले दु:ख और कठिनाई को भूल गया, हर्ष से उछल पड़ा।

जिस व्यक्ति में आशा होती है, विधायक भाव होता है, वही साधना के क्षेत्र मे सफल होता है। जो निराश हो जाता है, वही कभी सफल नहीं होता।

आत्म-विश्वास जागे

पहली बात है—सराग से वीतराग की कक्षा तक पहुचने के लिए हमारे मन में एक आत्मविश्वास होना चाहिए। एक सकल्प जागे—मुझे कहां जाना है। दुनिया में बाधारहित व्यक्ति कोई भी नही है। सराग से वीतराग बनने के लिए, सविचार से निर्विचार बनने के लिए, सविकल्प से निर्विकल्प बनने के लिए सबसे पहले आस्था का निर्माण करें, आशावादी दृष्टिकोण का निर्माण करे और मध्य में जो बाधाएं आती हैं, उनको पार करें। जो व्यक्ति आज सराग है, वह अपनी साधना और

आराधना के द्वारा वीतराग बन सकता है, केवलज्ञानी बन सकता है, मुक्त हो सकता है। इस भूमिका पर हम विचार करते हैं तो यह दिन और रात का द्वन्द्व हमारे लिए बाधक नहीं बनता। कभी दिन आ सकता है, कभी रात आ सकती है। हम ध्यान में बैठते हैं। उसमें कभी पैर सो सकता है, कभी हाथ सो सकता है, कभी कमर मे दर्द आ सकता है, कभी कोई विचार आ सकता है, अच्छा विचार भी आ सकता है, बुरा विचार भी आ सकता है किन्तु वे हमारे लिए कोई कठिनाई नहीं बनते।

ज्ञाता-द्रष्टा बनें

हमें एक ही सूत्र मिला है— जो भी विचार आए, उसे जानें और देखें। कहा गया— अगर केवलज्ञानी बनना है तो ज्ञाता बनो। केवलदर्शनी बनना है तो द्रष्टा बनो। ज्ञाता और द्रष्टा बने बिना कोई केवलज्ञानी नहीं बनेगा, केवलदर्शनी नहीं बनेगा। यदि दर्द है तो दर्द को जानो, प्रतिक्रिया मत करो, केवल ज्ञाता बने रहो। जो व्यक्ति ज्ञाता बना रहेगा, वह एक दिन निश्चित ही केवलज्ञान की भूमिका में पहुंच जाएगा।

हमारे भीतर सारे संस्कार संचित हैं। वे उभरते रहते हैं। हम उन्हें देखते रहें, जानते रहे। कहा गया— यदि क्रोध का भाव आए, क्रोध को देखो। अध्यात्म का बड़ा अटपटा सूत्र है— क्रोध आए तो क्रोध मत करो, उसे देखो, जानो। प्रश्न हो सकता है, क्रोध को कैसे देखें? क्या वह पूछकर आता है? यह ज्ञाताभाव अभ्यास के द्वारा सिद्ध होता है। जिस व्यक्ति ने ज्ञाता और द्रष्टा होने की साधना की है, वह क्रोध को देख सकता है, राग को देख सकता है, मस्तिष्क में उठने वाली प्रत्येक तरंग को देख सकता है किन्तु उसे क्रियान्वित नहीं करता।

फलवान् न बनाएं

साधना के साहित्य में दो शब्द आते हैं— क्रोध को सफल बनाना और क्रोध को विफल करना। क्रोध का आना एक बात है और क्रोध को सफल बनाना दूसरी बात है। क्रोध के संस्कार जागे, व्यक्ति ने संकल्प ले लिया— मैं दस मिनट तक नहीं बोलूगा, क्रोध सफल नहीं बनेगा। व्यक्ति को क्रोध आया और वह गालियां बकने लगा, क्रोध सफल बन गया। क्रोध आया, मौन कर लिया, व्यक्ति एकान्त में चला गया! खेचरी मुद्रा का प्रयोग कर लिया, क्रोध सफल नहीं बन पाएगा। हमारे मन में कितनी विचार की तरंगें उठती हैं। हम उन्हें फलवान् न बनाएं तो हम एक भूमिका तक पहुंच जाते हैं। जो व्यक्ति ज्ञाता-द्रष्टा हो जाता है, वह भावों को फलवान् नहीं बनने देता। चित्त मे जितनी वृत्तियां उभरती हैं, वह उन्हें जान लेगा किन्तु

क्रियान्वित नहीं करेगा। कोई विचार आया, क्रोध का विचार आया, काम का विचार आया, वासना का विचार आया। यदि उसे देख लिया, जान लिया तो बात समाप्त हो जाती है। विचार आए और उसके साथ बह जाए तो फल लग जाएगा।

सही साधन का चुनाव

परम्परा क्यों बनती है? कोई विचार आता है और हम विचार की क्रियान्विति कर देते हैं तो परम्परा आगे बढ़ती है। विचार को देख लें, क्रियान्विति न करें तो उसका तांता टूट जाएगा। दूसरी बार विचार आएगा तो विचार भी सोचेगा— निकम्मा आदमी है, मुझे क्रियान्वित नहीं करेगा। पांच-दस बार ऐसा होगा तो विचार आना ही बंद हो जाएगा।

एक सही साधन का चुनाव करना जीवन में सफल होने का बहुत बडा सूत्र है। एक बहुत बडे सेनापति से लोगों ने पूछा— आपकी सफलता का रहस्य क्या है? आप हमेशा जीतते ही हैं। इसका राज क्या है? उसने कहा— मैं नौ खुफिया और एक रसोइया रखता हूं और मेरा जो शत्रु है, वह नौ रसोइया और एक खुफिया रखता है।

महत्त्वपूर्ण शब्द

जहां साधन गलत होते हैं, आदमी हार जाता है। साधन सामग्री सही होती है तो विजय में कोई आशंका नहीं रहती। जिस व्यक्ति को वीतराग की कक्षा तक पहुंचना है, उसे चुनाव करना है ज्ञाताभाव का, द्रष्टाभाव का। ज्ञाता और द्रष्टा— ये दो शब्द अध्यात्म में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। ज्ञाता और द्रष्टा होना चिकित्सा का भी बहुत बड़ा सूत्र है, मन की शान्ति का भी बहुत बड़ा सूत्र है। जो व्यक्ति इसकी ठीक साधना करता है, वह सराग से वीतराग होने की साधना करता है और ... एक दिन ऐसा आता है, रात और अन्धकार समाप्त हो जाते हैं, कोरा दिन और कोरा प्रकाश रहता है, रात और दिन का द्वन्द्व मिट जाता है। □

संकलिका 5

- उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि को वि उवओगो।
  कोहो कोहे चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो।।
- अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो।
  उवओगम्हि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि।।
- सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
  जाणंतो दु असुद्धं, असुद्धमेवप्पय लहदि।।
  (समयसार- १८१, १८२, १८६)
- समस्याएं क्यों हैं?
- लोभ का साक्षात्कार : मौत का साक्षात्कार
- अशुद्ध चेतना के परिणाम
- चिन्तन के दो कोण
- शुद्ध चेतना का निदर्शन
- शुद्ध चेतना . अन्वेषण की उपयोगिता
- वर्तमान पीढ़ी : असयम का परिणाम
- समाधान-सूत्र

जागरण और नींद का संघर्ष

आदमी दिन में जागता है, रात में नींद लेता है। जागरण और नींद के साथ दिन-रात का संबंध जुड़ा हुआ है। जागरण प्रत्येक क्षेत्र में लाभदायक माना गया है। जागरूक रहना सफलता के लिए अनिवार्य है। अध्यात्म में जागरण का विशेष अर्थ है— शुद्ध चेतना मे होना और नींद का अर्थ है अशुद्ध चेतना में होना। जो व्यक्ति अशुद्ध चेतना मे जीता है, वह नीद में होता है। जो व्यक्ति शुद्ध चेतना में जीता है, वह जागरण की अवस्था में होता है।

समस्या का मूल

वस्तुतः जागरण बहुत मूल्यवान् है। जागरण के अभाव में ही बहुत सारी समस्याएं पैदा होती हैं। आदमी जागृत होता है तो अनेक समस्याएं सुलझ जाती हैं। हम पूरे समाज का अध्ययन करें तो हमारा निष्कर्ष होगा, समाज समस्याओं मे आक्रात है। अनैतिकता की समस्या है, अप्रामाणिकता और भ्रष्टाचार की समस्या है, कलह की समस्या है। पारिवारिक, सामाजिक और संस्थागत जीवन में ऐसी अनेक समस्याए प्रस्तुत होती हैं। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन भी इनसे अछूता नहीं है। प्रश्न है— ये समस्याए क्यो पैदा हो रही हैं? हम समस्याओं के मूल को पकड़ें। ये समस्याए अशुद्ध चेतना से उपजी समस्याएं हैं। अशुद्ध चेतना इन समस्याओं को जन्म दे रही है। यदि चेतना शुद्ध होती तो ये समस्याएं पैदा नहीं होती।

उपयोग और क्रोध

आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा— उपयोग में केवल चेतना का उपयोग होता है। उपयोग में क्रोध नहीं होता और क्रोध में उपयोग नहीं होता। जब क्रोध की चेतना है तब शुद्ध ज्ञान की चेतना नहीं है। जब शुद्ध ज्ञान-चेतना है तब क्रोध-चेतना नहीं है। शुद्ध ज्ञान-चेतना और क्रोध-चेतना — दोनों एक साथ नहीं हो सकती। शुद्ध चेतना के क्षण में न क्रोध होता है, न मान होता है, न कपट, लोभ और कामवासना होती है। उपयोग की अवस्था में आठों ही कर्म नहीं हैं।

उवओगे उवओगो, कोहादिसु णत्थि को वि उवओगो।
कोहो कोहे चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो।।
अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो।
उवओगम्हि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि।।

समस्या से मुक्ति का उपक्रम

शुद्ध चेतना में केवल चेतना होती है, केवल ज्ञान होता है। जब चेतना अशुद्ध बनती है तब सारी विकृतियां पैदा होती हैं। शुद्ध चेतना में रहने का अभ्यास समस्या से मुक्ति पाने का उपक्रम है। केवल ज्ञान का काम है केवल जानना, अनुभव करना। हम इस स्थिति में रहें तो मानसिक स्थिति बदल सकती है, सामाजिक समस्याओं में भी सुधार हो सकता है। जो व्यक्ति केवल ज्ञान की स्थिति में रहता है, वह किसी का अनिष्ट नहीं कर सकता, किसी के साथ अन्याय नहीं कर सकता। जब-जब हम ज्ञान-चेतना से हटकर भय, क्रोध, लोभ और काम की चेतना मे प्रवेश करते हैं तब-तब हमारी मानसिकता विकृत बन जाती है, हमारे विचार दूषित हो जाते हैं।

व्यक्ति की जिज्ञासा : तपस्वी का समाधान

तीन व्यक्ति जंगल में जा रहे थे। उन्होंने देखा— एक तपस्वी तप तप रहा है। तीनों तपस्वी को प्रणाम कर उनकी उपासना में बैठ गए। तपस्वी का ध्यान पूरा हुआ। एक व्यक्ति बोला— महाराज! आज मेरे मन मे एक प्रश्न उभर रहा है। क्या आप उसका समाधान देंगे?

तपस्वी— हां! तुम्हारा प्रश्न क्या है?

मौत क्या है? हम उसका साक्षात्कार करना चाहते हैं?

क्या सचमुच मौत का साक्षात्कार करना चाहते हो?

हां।

उनकी चेतना में कोई विकार नही था। एक जिज्ञासा थी मन में। वे सत्य को जानना चाहते थे, मौत को साक्षात् करना चाहते थे।

तपस्वी ने अंगुली से सामने दिख रहे पहाड़ की ओर इशारा करते हुए कहा— उस पहाड़ में जो गुफा दिखाई दे रही है, उसमे जाओ। वहां मौत बैठी है, उसका साक्षात्कार हो जाएगा।

कहां है मौत?

तपस्वी के इस उत्तर से वे प्रसन्न हो गए। मौत से साक्षात्कार का उपाय जानकार वे गुफा की ओर चल पड़े। उनके मन में अदम्य उत्साह था, उनकी चेतना निर्मल और विशुद्ध थी। कुछ ही देर में वे गुफा के द्वार

पर पहुंच गए। गुफा के भीतर घुसे। उन्होंने देखा— गुफा के भीतर ढेर सारा सोना पड़ा है। उसका कोई रखवाला नहीं है, मालिक नहीं है। उनका मन विस्मय से भर गया। उनकी आवाज थम गई, चिन्तन रुक गया। वे एकटक सोने के अपार ढेर को निहारने लगे। उनकी आंखें चुंधिया गईं, सोचा— इतना सोना कहां से आया? यह सपना तो नहीं है? प्रश्न का समाधान नहीं मिला। तपस्वी ने कहा था— मौत का साक्षात्कार होगा किन्तु मौत का नहीं, सोने का साक्षात्कार हो रहा है। चिंतन आगे बढ़ा— मौत को फिर देख लेंगे। जब सोना मिल गया है तब मौत को क्यों देखें? वे मौत की बात भूल गए। सोने के आकर्षण में डूब गए। तीनों के मन में लोभ की चेतना जाग गई। जिज्ञासा की चेतना, ज्ञान की चेतना नीचे दब गई, लोभाक्रांत चेतना उभर आई। तीनों व्यक्तियों के मन में एक विकल्प उठा— सारा सोना मुझे कैसे मिले? प्रत्येक व्यक्ति इस चिन्ता में उलझ गया। तीनों में जो सबसे बड़ा था, उसने कहा— भाई! हमें अनायास ही अपार धन मिला है। हमें उस धन को ले जाना है किन्तु हम भूखें हैं, इतना भार उठा नहीं पाएंगे। एक व्यक्ति से कहा— तुम आसपास किसी गांव में जाओ और कुछ रोटियां ले आओ। दूसरे से कहा— तुम भी बाहर किसी जलाशय से पानी ले आओ। मैं तब तक यहां रखवाली करुंगा।

मौत का साक्षात्कार

जब चेतना विकृत होती है, सब कुछ विकृत हो जाता है। विचार के बुरे परमाणु इतने संक्रमणशील होते हैं कि वे प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क को प्रभावित कर देते हैं। तीनो व्यक्तियों की चेतना विकृत बन गई।

पहला व्यक्ति समीपवर्ती गांव में गया और थोड़ी देर में रोटी ले आया। ज्यों ही वह गुफा के भीतर घुसने लगा, भीतर बैठे व्यक्ति ने तलवार से वार किया। तलवार के तीव्र प्रहार से गला कट गया, सिर धड़ से अलग हो गया। कुछ समय बाद दूसरा व्यक्ति पानी लेकर आया। उसके साथ भी वही हुआ। तलवार चली, मौत का साक्षात्कार हो गया।

दोनों व्यक्ति मर गए। तीसरे ने सोचा— बहुत अच्छा हुआ। भोजन भी मिल गया, पानी भी मिल गया और धन भी मिल गया। उसने भर पेट भोजन किया, पानी पिया। सोना बटोरने की तैयारी करने लगा। ऐसा करते करते वह भी वहीं लुढ़क गया। भोजन और पानी— दोनों में जहर था। एक ने सोचा था— भोजन में विष मिला दूं। वे दोनों खाएंगे और मर जाएंगे। यदि मुझे खाने के लिए कहेंगे तो मैं कहूंगा— मैं खाना खाकर आया हूं। मुझे भूख नहीं है। आप खा लीजिए। दूसरे ने सोचा था— मैं पानी में जहर मिलाकर ले जाऊं। वे दोनों पानी पिएंगे, दोनों मर जाएंगे, सारा धन मुझे मिल जाएगा। एक ही विचार तीनों में संक्रान्त हो गया। धन किसी को

भी नहीं मिला किन्तु सबको मृत्यु का साक्षात्कार हो गया।

मार्मिक भाषा

जब-जब चेतना अशुद्ध बनती है, ऐसी स्थितियां घटित होती हैं। एक व्यक्ति दूसरे का धन हड़पना चाहता है, एक व्यक्ति दूसरे के धन पर अधिकार करना चाहता है, एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को नीचे गिराना चहता है, मारना चाहता है। ये हिंसा की घटनाएं, अपहरण और अपराध की घटनाएं चेतना की विकृत अवस्था में घटित होती हैं। शुद्ध चेतना की स्थिति में इनकी संभावना नहीं की जा सकती। आचार्य कुन्दकुन्द ने बहुत मार्मिक भाषा में कहा — शुद्ध चेतना को जानने वाला शुद्ध चेतना को प्राप्त होता है और अशुद्ध चेतना को जानने वाला अशुद्ध चेतना को प्राप्त होता है—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं, असुद्धमेवप्पयं लहदि।।

आत्मा : दो रूप

हमारी आत्मा के दो रूप बन गए — अशुद्ध आत्मा और शुद्ध आत्मा। वस्तुतः शुद्ध चेतना के अनुभव के अभाव में सारे अनर्थ चल रहे हैं। शुद्ध चेतना का अनुभव करना अध्यात्म का ही सूत्र नहीं है, समाज का भी महत्त्वपूर्ण सूत्र है, नैतिकता का भी महान् सूत्र है। आज नैतिकता की समस्या विकट बनी हुई है। अनैतिकता का एक जाल सा बिछा हुआ है। एक व्यक्ति ने कहा— महाराज! मैंने दिल्ली में एक मकान बनवाया। उसे कारपोरेशन से प्रमाणित कराना था। क्लर्क ने कहा— मैं आपकी फाइल ठीक कर दूंगा पर एक लाख रुपए लगेंगे। मैंने एक लाख रुपए दे दिए, मकान का नक्शा प्रमाणित हो गया। मैंने पूछा— इतने से कार्य के लिए एक लाख क्यों दिए? उसने कहा— अगर मैं एक लाख नहीं देता तो वह फाइल खराब कर देता। मकान ठीक नहीं है, तुड़वाना होगा। उसमें कई लाख लग जाते। एक लाख में ही काम हो गया। ये समस्याएं क्यों पैदा होती हैं? एक गंभीर रूप से बीमार व्यक्ति हॉस्पिटल मे पड़ा है, प्राणान्त होने जैसी स्थिति है किन्तु जब तक प्रवेश की प्रक्रिया पूरी नहीं होती, उसका इलाज संभव नहीं बनता। इस सारी प्रक्रिया के बीच रिश्वत और अनैतिकता का एक चक्र चलता रहता है।

अध्यात्म : पहला सूत्र

प्रश्न है— ऐसा क्यों होता है? चेतना के अशुद्ध हुए बिना ऐसा होना संभव नहीं है। यदि व्यक्ति दिन में आधा घण्टा भी शुद्ध चेतना की अवस्था में रहना सीख जाए तो इस स्थिति में परिवर्तन हो सकता है।

जिसने आधा घण्टा शुद्ध चेतना में रहने का अभ्यास किया है, वह कभी बड़ा अन्याय नहीं कर सकता। उससे सामान्य गलतियां हो सकती हैं किन्तु वह गंभीर अपराध नहीं कर सकता, किसी का गला नहीं काट सकता, किसी का शोषण नहीं कर सकता। शुद्ध चेतना का अनुभव होने पर अन्याय, अपराध और शोषण जैसी स्थितियां समाप्त हो जाती हैं।

अध्यात्म का पहला सूत्र है— शुद्ध चेतना का अनुभव। जिस व्यक्ति ने शुद्ध चेतना को जानने और जीने का अभ्यास नहीं किया है, उसे न धार्मिक कहा जा सकता है न आध्यात्मिक कहा जा सकता है। अध्यात्म का अर्थ है— राग-द्वेष मुक्त चेतना में जीना— शुद्ध चेतना में जीना। यही ध्यान है, अहिंसा, समता और धर्म है। भगवान् महावीर ने अध्यात्म की इस अवधारणा को प्रखरता से प्रस्तुत किया। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी इसी बात पर बल दिया— हम शुद्ध आत्मा की अनुभूति करें, ज्ञान में जिएं, ज्ञान का अनुभव करें, ज्ञान के स्वभाव को न भूलें।

अशुद्ध है चेतना

चेतना का निर्मल जल विकार के मल से गंदा बन जाता है। समाचार-पत्र में पढ़ा— दिल्ली का पानी दूषित हो गया है। दूषित होने का कारण बतलाया गया— पानी का नल और मल-का नल — दोनों परस्पर सटे हुए चलते हैं। जब कभी उन नलों में खराबी आती है, कोई नल टूट जाता है, तब मल के नल का मैल पानी के नल में मिल जाता है और उससे दूषित बना पानी लोगों के घरों में पहुंच जाता है।

ऐसा लगता है— हमारी चेतना का प्रवाह शुद्ध नहीं रहा। इसमें अशुद्धता की धारा संक्रांत हो गई है। इसमें राग और द्वेष, प्रियता और अप्रियता की गंदी नालिया मिल गई हैं। ये दोनों चेतना के शुद्ध प्रवाह को अशुद्ध बनाए हुए हैं इसीलिए वह कभी क्रोध से आक्रांत हो जाती है, कभी मान, माया और लोभ से आक्रांत हो जाती है। राग और द्वेष के चक्रव्यूह में फंसी हुई चेतना अशुद्ध चेतना है। संभवतः आदमी इन समस्याओं को चाहता है इसीलिए वह अशुद्ध चेतना में जीना पसन्द करता है। काम, क्रोध और भय मुक्त चेतना उसे पसन्द नहीं है। अनेक लोग इस बात पर विश्वास करते हैं— वह क्या सामाजिक प्राणी है, जिसमें क्रोध भी न हो? वह क्या करेगा, घर को भी नहीं चला पाएगा। एक व्यक्ति ने मुझे कहा— प्रशासन चलाना है तो क्रोध करना जरूरी है। मैंने कहा— तेज बोलना तो जरूरी हो सकता है पर क्रोध करना जरूरी क्यों है? कहीं-कहीं एक आवेश दिखाना आवश्यक हो सकता है किन्तु क्रोध करना नहीं। पर ऐसी धारणा बनी हुई है कि क्रोध किए बिना घर का काम भी नहीं चल सकता।

मान्यता : परिणाम

लोभ के सन्दर्भ में भी यही बात है। व्यक्ति सोचता है— लोभ के बिना काम चल ही नहीं सकता। यदि लोभ न हो तो विकास की गति मंद हो जाए, समाप्त हो जाए। यह मान्यता बन गई— लोभ अत्यन्त अनिवार्य हैं। हम यह मान लें— सामाजिक प्राणी के लिए क्रोध भी जरूरी है, लोभ भी जरूरी है, भय भी जरूरी है। किसी कवि ने यह लिखा भी है— भय बिनु होई न प्रीति। भय के बिना प्रीति नहीं होती। काम तो जरूरी है ही। ये सब भी जरूरी हैं। जब हम इन सबको जरूरी मान लेते हैं तब इनके परिणामों से क्यों घबराएं? क्रोध होगा तो क्रोधजनित समस्याएं भी होंगी। इस स्थिति में एक भाई दूसरे भाई का धन हड़पना चाहता है तो उसे बुरा क्यों मानें? जब लोभ जरूरी है तब बुरा मानने की बात ही क्या है? जब लोभ प्रबल बनता है, व्यक्ति सारी सीमाओं को लांघ जाता है।

जटिल है लोभ का प्रश्न

यह बात समझ में आ सकती है कि साधना के बिना चेतना को शुद्ध बनाया नहीं जा सकता। सोचने के दो कोण हमारे सामने हैं। एक कोण है— साधना के बिना क्रोधाक्रांत चेतना को मिटाया नहीं जा सकता, लोभ से मुक्ति नहीं पाई जा सकती। दूसरा कोण है— क्रोध करना जरूरी है, लोभ जरूरी है। इन दोनों दृष्टिकोणों में बहुत अन्तर है। प्रेक्षा ध्यान के संदर्भ मे क्रोध को शान्त करने के कुछ उपाय खोजे गए, उनके प्रयोग भी सफल रहे। भय-मुक्ति के उपाय भी खोजे गए। ऐसे अनेक व्यक्ति प्रेक्षाध्यान शिविरों में आए, जिन्हे निरतर डर सताता था, अकारण ही भय लगता था। ध्यान के प्रयोगो मे उनका भय मिट गया। मान समाप्ति के गुर भी खोजे गए किन्तु लोभ समाप्ति के गुर खोजने में आज तक सफल नहीं हुए हैं। यह सबसे बड़ी समस्या है। इसकी मुक्ति के गुर की खोज आज भी जारी है। लोभ का प्रश्न बहुत जटिल है। लोभ ऐसी भयंकर बीमारी है, जिसके लिए कोई अमोघ उपचार उपलब्ध नहीं हुआ है। यद्यपि कुछ सूत्र मिले हैं किन्तु उसके प्रयोक्ता भी दुर्लभ हैं। बीमार भी है, दवा भी है पर व्यक्ति दवा लेना नहीं चाह रहा है। व्यक्ति की मनोवृत्ति ही ऐसी बनी हुई है। वह यही चाहता है— इस दवा को न लूं, इसमे ही भला है।

शुद्ध चेतना

यह अशुद्ध चेतना की समस्या है, जो सारी समस्याओं को सिंचन दे रही है। हम इस पर सकारात्मक दृष्टि से सोचें। हिन्दुस्तान और अशेष विश्व में संतों की एक महान् परम्परा रही है। उसमें हजारों-हजारों व्यक्ति ऐसे हुए हैं, जिन्होंने अपनी शुद्ध चेतना का अनुभव किया है, शुद्ध चेतना का

जीवन जीया है। जो शुद्ध चेतना की छाया में जीते हैं, उनके सामने कोई समस्या समस्या नहीं बनती।

एक संत गांव में प्रवेश कर रहे थे। सैकड़ों भक्त उनके साथ थे। एक व्यक्ति संत के सामने आया। उसके हाथ में एक पात्र था। वह कोयला एवं राख से भरा हुआ था। संत के निकट आते ही उसने राख एवं कोयला संत के शरीर पर फैंका। जो भक्त साथ चल रहे थे, वे इस दृश्य को देख कुपित हो उठे। उन्होंने कहा– कितना बदतमीज है! कुछ व्यक्ति उसे मारने के लिए आगे बढ़े। संत ने कहा– शांत रहो। लोग बोले– महाराज! आप मत रोकिए। इस मूर्ख आदमी को मारना ही उचित है। संत ने शांत स्वर में कहा– यह कितना अच्छा आदमी है। इसने आग उगलते हुए अंगारे नहीं फैंके, बुझे हुए कोयले फैंके हैं। इससे हमारा क्या नुकसान हुआ? एक बार स्नान करेंगे, सारा मैल साफ हो जाएगा।

बाधा है व्यस्तता

यह है शुद्ध चेतना। जहां शुद्ध चेतना होती है, वहां कोई समस्या पैदा नहीं होती, सारी समस्याएं समाप्त हो जाती हैं। हम एक ओर अशुद्ध चेतना को पाल रहे हैं, उसे पोषण और प्रोत्साहन दे रहे हैं, दूसरी ओर अशुद्ध चेतना के परिणामों से भयभीत बने हुए हैं। यह दोहरी मूर्खता है। यदि हम सचमुच समस्याओं से मुक्ति चाहते हैं तो हमें चेतना को निर्मल बनाने का अभ्यास करना होगा। आज का व्यक्ति समस्याओं से मुक्ति चाहता है किन्तु शुद्ध चेतना को जगाने के लिए उसके पास समय नहीं है। किसी व्यक्ति से कहा जाए–तुम ध्यान किया करो, कुछ समय आत्मचिन्तन में लगाया करो। उसका उत्तर होगा – मैं बहुत व्यस्त हूं। मेरे पास पांच मिनट का भी समय नहीं है। मैं मानता हूं, अत्यन्त व्यस्त होना मौत को जल्दी बुलाना है। जो आदमी अपने आपको व्यस्त रखता है, अपने दिमाग को कभी खाली नहीं करता, वह शायद मौत को ज्यादा प्यारा है। मौत उसे जल्दी अपने घर बुलाना चाहती है।

संतुलन सूत्र

खाली होना, यह जीने की कला है। जो व्यक्ति निरंतर व्यस्त है, वह समझदार नहीं है, नासमझी का जीवन जी रहा है। जो व्यक्ति जीवन का मूल्य समझता है, जीवन का अर्थ समझता है, वह अपने आपको व्यस्त भी रखता है, खाली भी रखता है। खाली रहना और व्यस्त रहना– इन दोनों में स्वस्थ जीवन का रहस्य छिपा है। भोजन और अभोजन– दोनों का सम्यक् योग स्वस्थ जीवन का लक्षण है। यदि एक व्यक्ति सूर्योदय के साथ भोजन शुरू करे और अगले दिन सूर्योदय तक भोजन करता चला जाए तो क्या

परिणाम होगा? दूसरे दिन सूरज उगेगा या नहीं? आदमी खाने से ही नहीं जीता, न खाने से भी जीता है। यह भी कहा जा सकता है— आदमी खाने से नहीं, पचाने से जीता है। खाने के साथ पचाने के लिए भी समय चाहिए। यदि व्यक्ति खाता ही चला जाए तो पचाने का प्रश्न ही नहीं उठेगा। मनुष्य दिन में दो-चार बार खाता है, दो घण्टे से ज्यादा संभवतः नहीं खाता इसीलिए वह जीता है। भोजन और अभोजन का एक संतुलन है।

प्रवृत्ति : निवृत्ति

मनुष्य प्रवृत्ति करता है। वह प्रवृत्ति के साथ-साथ निवृत्ति करता है। जापानी लोगों से पूछा— आप लोग ध्यान करते हैं? उत्तर मिला— हम बहुत व्यस्त रहते हैं। अगर ध्यान न करें तो जीना मुश्किल हो जाए। हमने प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति के सूत्र को सीखा है। उन्होंने कहा— जापान के लोग सक्रिय बहुत हैं किन्तु निष्क्रिय रहना भी जानते हैं। पंडित नेहरु से पूछा गया— आप एक दिन में अनेक भाषण दे डालते हैं। कभी यहां और कभी वहा, भाषण चलते ही रहते हैं। आप इतना सक्रिय जीवन कैसे जी लेते हैं? नेहरु ने उत्तर दिया— आपको मेरी सक्रियता दिख रही है किन्तु मैं निष्क्रिय होना भी जानता हूं।

सक्रियता में निष्क्रियता की खोज, व्यस्तता में खालीपन की खोज, प्रवृत्ति में निवृत्ति की खोज, अस्थिरता में स्थिरता की खोज शुद्ध चेतना की खोज है। जो व्यक्ति इस चेतना की खोज करता है, वह अपनी समस्या को सुलझा लेता है।

प्रश्न उपयोगिता का

प्रश्न उपयोगिता का भी है। शुद्ध चेतना को खोजने की उपयोगिता क्या है? हमने ध्यान किया, शुद्ध चेतना के अनुभव के लिए प्रवृत्त हुए। हो सकता है— आज उसकी उपयोगिता समझ में न आए किन्तु उससे प्रभावित जीवन उसकी उपयोगिता को प्रस्तुत कर देता है। शुद्ध चेतना का स्पर्श करने वाले व्यक्ति के जीवन में जो बदलाव आता है, उसका केवल उसे ही नहीं, दूसरों को भी पता चलता है। उसका असर वर्तमान में ही नही, सुदीर्घ भविष्य में भी प्रतिबिम्बित होता रहता है। शुद्ध चेतना से प्रभावित व्यक्ति अपने लिए ही नहीं, समाज के लिए भी कल्याणकारी बनता है।

पुराने जमाने की बात है। राजा वेश बदलकर नगर में घूम रहा था। वह घूमते-घूमते एक बगीचे में पहुच गया। माली अखरोट का पेड़ लगा रहा था। राजा ने पूछा— अरे भाई! तुम अखरोट का पेड़ लगा रहे हो। इस पर फल काफी वर्षों के बाद लगते हैं। वे फल तुम्हारे क्या काम आएंगे? इस वृक्ष को लगाने की उपयोगिता क्या है? माली ने उत्तर दिया— तुम होशियार

लगते हो किन्तु कुछ भोले भी लगते हो। अगर यही बात मेरे पूर्वज सोचते तो इस बगीचे में आज एक भी पौधा नहीं होता। पूर्वजों के बोए पेड़ों के फल मैं खा रहा हूं और मेरे बोए पेड़ भावी पीढ़ी के काम आएंगे। क्या यह उपयोगिता नहीं है? आज के कार्य का फल भावी पीढ़ी को मिले, यह बहुत बड़ी उपयोगिता है।

इक्कीसवीं शताब्दी का चित्र

वर्तमान बदल जाए तो भविष्य भी बदल जाए। वर्तमान पीढ़ी बदल जाए तो भावी पीढ़ी भी बदल जाए। वर्तमान पीढ़ी का संयम भावी पीढ़ी के लिए कल्याणकारी बनता है और उसका असंयम भावी पीढ़ी के लिए अकल्याणकारी। वर्तमान पीढ़ी नहीं बदलती है तो उसका परिणाम भी भावी पीढ़ी को भुगतना पड़ता है। समाचार-पत्र में एक पर्यावरणविद् का लेख पढ़ा– आज का आदमी, वर्तमान पीढ़ी, भूमि और पानी का अतिरिक्त दोहन कर रही है। इसका परिणाम अगली पीढ़ी भुगतेगी। हो सकता है, इक्कीसवीं शताब्दी में कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली, मास्को जैसे बड़े शहरों के लोगों को गंदी नालियों का पानी साफ कर पीना पड़े। वर्तमान पीढ़ी पानी का जो अपव्यय कर रही है, उसका परिणाम है– अगली पीढ़ी पानी के गंभीर संकट से गुजरेगी। बोलचाल की भाषा में दादा-पोते को एक कहा जाता है। दादा और पोता– वर्तमान तथा भावी पीढ़ी के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हो सकते हैं। दादाजी की मूर्खता का फल पोते को भुगतना पड़ता है और उनकी समझदारी का फल भी उसे ही उपलब्ध होता है।

जीवन में मोड़ आए

हम वर्तमान की बात नहीं सोचते इसीलिए उलझ जाते हैं। हम इस बात को भूल जाते हैं कि हमारी शुद्ध चेतना की अनुभूति हमारे ही काम नहीं आएगी किन्तु वह अगली पीढ़ी के लिए भी अनेक समस्याओं का समाधान बन पाएगी। आज हम अनैतिकता की समस्या भोग रहे हैं। यह केवल वर्तमान पीढ़ी का ही करतब है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। पहले से कुछ ऐसा प्रभाव आ रहा है, जिसका परिणाम हमें भुगतना पड़ रहा है। आज भी यह बात हमारी समझ में आ जाए, शुद्ध चेतना में जीने का अभ्यास शुरू हो जाए तो जीवन का वातावरण बदल जाए, समस्याओं का चक्रव्यूह टूट जाए। यदि हम प्रतिदिन एक घंटा शुद्ध चेतना में रहें, काम, क्रोध और भय की चेतना से मुक्त होकर आत्मानुभूति में रहें, ऐसा अभ्यास एक वर्ष तक करते रहें, हमें अनुभव होगा– हम कहां थे और कहां पहुंच गए हैं। हमारे जीवन में एक नया मोड़ आएगा।

काम आएगा अपना भरोसा

हम दिन भर विचारों के घेरे में कैद रहते हैं। कभी क्रोध का विचार आता है, कभी मान, माया और लोभ का विचार आता है, कभी घृणा और द्वेष का विचार आता है। यदि निरन्तर इन्हीं विचारों में जीते रहे तो न स्वास्थ्य की चिन्ता करने की जरूरत है, न प्रसन्नता और दीर्घायुष्य की चिन्ता करने की जरूरत है। इस स्थिति में हम अपने आपको नियति या रामभरोसे छोड़ दें। यह मान लें, जो होना लिखा है, वही होगा। रामभरोसे से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है अपना भरोसा। हम अपने आप पर भरोसा करें, अपनी आत्मानुभूति को जगाएं, शुद्ध चेतना का अनुभव करें। यह अध्यात्म की गहरी बात लग सकती है किन्तु यह एक सचाई है। आचार्य कुन्दकुन्द जैसे अनेक आचार्यों ने अध्यात्म की अनुभूति कर इस सचाई को उजागर किया है। हम इस दिशा में आगे बढ़ें, शुद्ध चेतना की खोज के लिए समर्पित हों, हमारा भविष्य हमारे हाथ में होगा। □

संकलिका 6

- वत्थुं पडुच्च जं पुण, अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं।
  ण य वत्थुदो दु बंधो, अज्झवसाणेण बंधोत्थि।।
- सव्वे करेदि जीवो, अज्झवसाणेण तिरिय णणेरइए।
  देवमणुए य सव्वे, पुण्णं पावं च णेयविहं।।
  (समयसार- २६५, २६८)
- सरीरमाहु नावोत्ति, जीवो वुच्चई नाविओ।
  संसारो अण्णओ वुत्तो जं तरंति महेसिणो।।
- दो दृष्टिकोण–
  निश्चय नय
  व्यवहार नय
- निश्चय नय – वृत्तग्राही दृष्टि
  व्यवहार नय– पर्यायग्राही दृष्टि
- निश्चय नय : अभेदग्राही दृष्टि
  व्यवहार नय : भेदग्राही दृष्टि
- सत्य के दो प्रकार–
  सूक्ष्म सत्य
  स्थूल सत्य
- स्थूल सत्य : व्यक्त सत्य
  सूक्ष्म सत्य : अव्यक्त सत्य
- व्यावहारिक सचाई : नैश्चयिक सचाई
- बंध का कारण है अध्यवसाय
- अध्यवसाय है चेतना का परिणाम
- दुःख मुक्ति का मार्ग

सत्य की खोज के दो दृष्टिकोण

सत्य और मिथ्या—इन दो शब्दों से हम बहुत परिचित हैं। एक धारणा है—सत्य से समस्या उलझती है। दूसरी धारणा यह है—सत्य से समस्या सुलझती है।

एक न्यायाधीश ने अपराधी से कहा—बोलो, सच-सच कहोगे? अपराधी असमंजस में पड़ गया।

न्यायाधीश ने कहा—तुम जानते हो, झूठ बोलने का परिणाम क्या होगा?

उसने कहा—नरक

न्यायाधीश ने पूछा—सच बोलने का परिणाम?

उसने कहा—सच बोलने का परिणाम होगा कारावास।

यह एक धारणा है—सच बोलने वाला जेल में जाता है। इस व्यावहारिक धारणा के ठीक विपरीत दूसरी धारणा यह है—जितना मिथ्या दृष्टिकोण चलता है उतना ही आदमी दुःखी बनता है। सारे दुःखों को मिटाने का एक ही उपाय है—सत्य की खोज, सत्य के सामने चले जाना।

सत्य के दो प्रकार

सत्य को समझना बड़ा मुश्किल है। सत्य इतना सूक्ष्म है कि वहां तक पहुंचना कठिन है। भगवान् महावीर ने सत्य की खोज के दो कोण बतलाए। सत्य दो प्रकार का होता है—स्थूल सत्य और सूक्ष्म सत्य। कौआ काला होता है। वह काला है, यह सत्य है पर स्थूल सत्य है। हंस सफेद होता है, यह सत्य है किन्तु स्थूल सत्य है। यह सूक्ष्म सत्य नहीं है। सूक्ष्म सत्य है—कौआ काला भी है, सफेद भी है, पीला भी है, लाल भी है, नीला भी है। उसमें पांचों वर्ण हैं। इन पांचों रंगों को एक साथ पकड़ना—यह है सूक्ष्म सत्य और केवल एक रंग को पकडना—यह है

स्थूल सत्य। स्थूल सत्य को पकड़ने वाली दृष्टि व्यवहार नय है और सूक्ष्म सत्य को पकड़ने वाली दृष्टि निश्चय नय है।

नीम और गुड़ का संदर्भ

किसी से पूछा जाए, गुड़ कैसा होता है? नीम का पत्ता कैसा होता है? उत्तर मिलेगा—गुड़ मीठा होता है और नीम का पत्ता कड़वा होता है। क्या नीम कड़वा ही है? क्या गुड़ मीठा ही है? स्थूल सत्य है—गुड़ मीठा है और नीम का पत्ता कड़वा है किन्तु सूक्ष्म सत्य है—गुड़ कड़वा भी है और नीम का पत्ता मीठा भी है। जितने रस हैं, खट्टा, मीठा, कड़वा, तीखा और कसैला—ये सब गुड़ में हैं और नीम में भी हैं। मिट्टी में से चीनी निकाली जाती है। तारकोल का जो द्रव्य है, उसमें से चीनी निकाली जाती है। कहा जाता है कि आदिम युग में हमारी मिट्टी में इतना मिठास था, जो आज की चीनी से हजारों-हजारों गुना ज्यादा था। मिट्टी में मिठास भी है, कड़ुआहट भी है।

स्थूल दृष्टि : सूक्ष्म दृष्टि

स्थूल दृष्टि वाला व्यक्ति केवल व्यक्त पर्याय को पकड़ता है। जो व्यक्त हो गया, प्रगट हो गया, वही हमारे सामने आता है। आंख उसी को देखती है, जो व्यक्त है, प्रगट है। अव्यक्त को हमारी आंख पकड़ नहीं पाती। कौए का काला रंग व्यक्त है किन्तु पीला, नीला, लाल और सफेद—ये सारे रंग अवयक्त हैं। स्थूल दृष्टि अव्यक्त को नहीं पकड़ती। जो व्यक्त होता है, उसी को पकड़ती है। जब सूक्ष्म दृष्टि, प्रज्ञा जागती है, अतीन्द्रिय चेतना जागती है तब वह अव्यक्त को भी पकड़ सकती है। जो भीतर में छिपा हुआ है, उसको भी पकड़ लेती है। स्थूल सत्य व्यक्त सत्य है। सूक्ष्म सत्य अव्यक्त सत्य है।

प्रश्न क्षमता का

हमारे ज्ञान की क्षमता सीमित है। हमारी दृष्टि एकांशग्राही है। हम एक अंश को ग्रहण कर पाते हैं, समग्र को ग्रहण नहीं कर पाते हैं। कल्पना करें—एक संतरा है। व्यक्ति ने देखा—संतरा पड़ा है। आंखों ने देखा—संतरा है। प्रश्न हुआ—आंख ने किस बात को पकड़ा? आंख ने उसका रंग, रूप, आकार देखा और बता दिया यह संतरा है। पर वह खट्टा है या मीठा? आंख से इसका पता नहीं चल सकता। जीभ ने यह काम कर दिया। आंख और जीभ – दोनों का योग मिला, हमें पता लग गया—यह संतरा है, खट्टा है या मीठा है। अंधेरे में किसी ने संतरा रख

दिया। हमने नाक से सूंघा और पता चल गया—यह संतरा है। नाक, आंख और जीभ, ये सारी इन्द्रियां अपना-अपना काम करती हैं, एक अंश को ग्रहण करती हैं। आंख ने रूप और आकार को बताया, जीभ ने चखकर बताया, नाक ने गंध से बताया। हमने संतरा हाथ में लिया, हाथ से छूकर, स्पर्श कर बता दिया—यह संतरा है। स्पर्शन इन्द्रिय का भी अपना एक काम है। बहुत सारी बातें छूकर बता दी जाती हैं। जिनका कान विकसित हो जाता है, वे सूक्ष्म ध्वनि को भी पकड़कर बता देते हैं।

पटुता का निदर्शन

हिन्दुस्तान में ऐसे-ऐसे इन्द्रिय-पटु व्यक्ति हुए हैं, जिनकी कल्पना भी नहीं की गई। आज हम इन्द्रिय ज्ञान को भूल गए। यंत्रों और उपकरणों ने हमारे इन्द्रियों की शक्ति को बहुत कम कर दिया। आज पदार्थ-विश्लेषण का तरीका भिन्न हो गया है। वैज्ञानिक पदार्थ की यंत्रों से जांच करेगा, उसका रासायनिक विश्लेषण करेगा। उसके बाद बतायेगा कि इसमें अमुक-अमुक द्रव्य हैं। प्राचीन काल में वह ऐसे कार्य को अपनी इन्द्रिय पटुता से मपादित कर लेता था।

एक विदेशी सम्राट् ने भारतीय राजा को सुरमा भेजा। उस सुरमे से अन्धा आदमी चक्षुष्मान् बन जाता था। सुरमे की डिबिया में सुरमा बहुत कम था। उसे केवल एक व्यक्ति की आखों में ही आंजा जा सकता था। राजा ने सोचा—कैसा सुरमा है, पता लगाना चाहिए? उसका एक बूढ़ा मंत्री अन्धा था। राजा ने उमे बुलाकर कहा—यह सुरमा आंख में आंज लें, आपकी दृष्टि लौट आएगी। वृद्ध मत्री ने एक आंख में सुरमा डाला, आंख लौट आई। वह तत्काल देखने लग गया। उसने सुरमे को दूसरी आंख में नहीं डाला, उसे जीभ पर डालना चाहा।

राजा ने कहा—क्या कर रहे हैं आप? आपकी एक आंख लौट आई, दूसरी आंख में डालें, दिखने लग जायेगा। उसमें नहीं डालेंगे तो काने रह जाएंगे। मंत्री बोला—महाराज! मैं काना नही रहूंगा किन्तु सबका अंधापन मिटा दूगा।

मंत्री ने जीभ पर सुरमा डालकर उसका सूक्ष्म विश्लेषण किया, परीक्षण किया और दूसरे दिन राजा के सामने वैसा ही सुरमा हाजिर कर दिया। मंत्री ने कहा—महाराज! यह वही सुरमा है, जिसे मैंने एक आंख में डाला था। अब आप हजारों-हजारों लोगों की आंख लौटा सकेंगे। विदेशी सम्राट् का दूत मंत्री की इस पटुता से विस्मित हो उठा।

व्यवहार नय : निश्चय नय

यह कितना बड़ा चमत्कार है! क्या ऐसा विश्लेषण किया जा सकता है? बिना प्रयोगशाला के ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है? हमारी इन्द्रियों में इतनी क्षमता है, हमारे ज्ञान में इतना चमत्कार है पर हम इसे भूल गये हैं, परवश हो गए हैं। यंत्रों और उपकरणों के आश्रित बनकर हमने अपने ज्ञान की क्षमता को कम कर दिया। हमारी दृष्टि सूक्ष्मग्राही नहीं रही। जब हमारी दृष्टि सूक्ष्म बनती है तब हम व्यक्त पर्याय को, स्थूल पर्याय के एक अंश को ही नहीं देखते, वस्तु के समग्र अंशों को जान लेते हैं।

एकांश को जानना व्यवहार नय है और समग्र को जान लेना निश्चयनय है। पूरे वृत्त को जानने वाली वृत्तग्राही दृष्टि निश्चयनय है और पर्यायग्राही दृष्टि व्यवहारनय। हम लोग भेद को देखते हैं, वस्तु को अलग-अलग रूप में देखते हैं, भेद को देखने वाली दृष्टि व्यवहार नय है और अभेद को देखने वाली दृष्टि निश्चय नय है।

ऐसा माना जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार की रचना की और उन्होंने व्यवहार नय का लोप कर दिया, केवल निश्चय नय पर बल दिया। यह मानना संगत प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः सचाई यह नहीं है। सचाई यह है कि कुन्दकुन्दाचार्य ने निश्चय और व्यवहार – दोनों को ही स्थान दिया। उन्होंने व्यवहार नय का खण्डन नहीं किया, व्यवहार नय का लोप नहीं किया किन्तु निश्चय नय पर ज्यादा बल दिया। मैं मानता हूं कि निश्चय नय पर बल देना भी जरूरी था। आज सारा संसार व्यवहार नय के आधार पर पल रहा है, जी रहा है। मनुष्य की हर सांस में व्यवहार है। वह वास्तविक सचाई को भुलाए जा रहा है, निश्चय को विस्मृत कर रहा है। आचार्य भिक्षु ने भी निश्चय नय पर बहुत बल दिया।

आध्यात्मिक आचार्य का महान् कर्तव्य

मैं मानता हूं—व्यवहार से निश्चय की ओर ले जाना एक आध्यात्मिक आचार्य का महान् कर्तव्य है। जो केवल व्यवहार पर, स्थूल धारणाओं पर अटकता रहेगा, वह अन्तिम सचाई तक पहुंच नहीं सकेगा। अन्तिम सत्य तक पहुंचने के लिए व्यवहार से आगे निश्चय तक पहुंचना जरूरी है। इसका अर्थ व्यवहार का अतिक्रमण या खण्डन नहीं है किन्तु व्यवहार की धारणाओं में परिष्कार करना है।

संदर्भ शरीर का

हम इस सचाई को गंभीरता से समझें। एक व्यक्ति कहता है—मेरा शरीर है। शरीर मेरा है—एक साधु भी यह बात कहता है। एक गृहस्थ भी यह बात कहता है—मेरा शरीर है। पर यह हो नहीं सकता। शरीर मेरा है, यह व्यवहार का सच है। वास्तविक सचाई यह नहीं है। शरीर मेरा है, यह धारणा उपयोगी है। शरीर को अपना माने बिना कोई काम चलता नहीं है। व्यक्ति शरीर के आधार पर बोलता है, शरीर के आधार पर सोचता है। शरीर को अपना मानना एक उपयोगिता है इसलिए भगवान् महावीर ने कहा—जब तक समुद्र के पार नहीं पहुंच जाते तब तक नौका को छोड़ना नहीं है। शरीर एक नौका है। हम इसे तब तक नहीं छोड़ सकते जब तक इसका किनारा नहीं मिल जाता।

शरीरमाहु नावोत्ति, जीवो वुच्चई नाविओ।
संसारो अण्णओ वुत्तो, जं तरंति महेसिणो।।

शरीर नौका है, जीव नाविक है, संसार समुद्र है। जब तक दूसरे किनारे पर नहीं पहुंच जाते, तब तक नौका को नहीं छोड़ा जा सकता। शरीर व्यक्ति की एक उपयोगिता है इसलिए व्यक्ति कहता है—शरीर मेरा है किन्तु शरीर को अपना मानकर व्यक्ति ने दुःख भी कितने पैदा किये हैं। जो शरीर को अपना मानता है, वह उस शरीर के लिए क्या-क्या नहीं करता! व्यक्ति शरीर के लिए हिंसा भी करता है, झूठ भी बोलता है, परिग्रह भी करता है। वह शरीर के लिए दूसरों को कठिनाई में भी डाल देता है। वह शरीर का भरण-पोषण भी करता है, लालन-पालन भी करता है। क्या शरीर दुःख नहीं देता? बीमारी भी शरीर पैदा करता है। बुढ़ापा भी इसी शरीर में आता है। एक ओर शरीर महान् उपयोगी है तो दूसरी ओर शरीर महान् कष्ट देने वाला भी है।'शरीर मेरा है', यह एक स्थूल सचाई है। सूक्ष्म सत्य है इस धारणा को तोड़ देना।

नैश्चयिक सचाई

व्यक्ति अनुभव करे—शरीर मेरा नहीं है, मैं चैतन्यमय हूं, चैतन्य स्वरूप हूं। दर्शन मेरा स्वरूप है, ज्ञान मेरा स्वरूप है, वीतरागता मेरा स्वरूप है। एक स्वर है—शरीर मेरा है। दूसरा स्वर है— शरीर अचेतन है, प्राणी चेतन है। चेतन अचेतन को अपना माने, यह कितनी बड़ी मूर्खता है। दोनों स्वर अलग-अलग हैं किन्तु दोनों सच हैं। व्यवहार की सचाई है, शरीर मेरा है। निश्चय की सचाई है—शरीर मेरा नहीं है।

जब तक निश्चय की चेतना नहीं जागेगी, तब तक शरीर की मूर्च्छा नहीं टूटेगी, धर्म की चेतना नहीं जागेगी। अध्यात्म में पहले शरीर की मूर्च्छा को तोड़ना होता है। यह अनुभव करना होता है—शरीर मेरा नहीं है। जैन दर्शन में इसे भेद-विज्ञान कहा जाता है। वेदान्त दर्शन में इसे देहाध्यास से मुक्ति कहा गया है। देहाध्यास से छुटकारा पाए बिना कोई साधना नहीं कर सकता, भेद-विज्ञान के बिना कोई साधना नहीं कर सकता। यदि हम केवल व्यवहार की सचाई पर अटक जाएंगे तो धर्म की चेतना तक नहीं पहुंच पाएंगे।

संदर्भ घर का

इस सचाई को दूसरे संदर्भ में देखें। आदमी का शरीर से निकट का संबंध है। उसका दूसरा संबंध घर से है। आत्मा रहती है शरीर में और शरीर रहता है घर में। घर मेरा है, यह व्यवहार की सचाई है। अगर यह सच नहीं होता तो आदमी घर नहीं बनाता किन्तु निश्चय की सचाई है, घर मेरा नहीं है। मुनि राजर्षि दीक्षित हो रहे थे। इन्द्र ब्राह्मण के रूप में प्रस्तुत हुआ। उसने प्रार्थना की—राजन्! आप अभी दीक्षित हो रहे हैं? आपको बहुत सारे प्रासाद बनाने हैं। आप बड़े-बड़े महल खड़े करके प्रासाद बनायें, उसके बाद दीक्षा की बात करें। राजर्षि बोला— ब्राह्मण! तुमने बड़ा विचित्र उपदेश दिया। तू नहीं जानता — यहां मेरा घर नहीं बन सकता। जो आज घर बनाया जाएगा, वह कल टूट जाएगा, ऐसा घर मैं नहीं बनाना चाहता। मैं ऐसा घर बनाना चाहता हूं, जो बनाने के बाद कभी टूटे नहीं, पुराना न हो, खण्डहर न बने और उसी घर को बनाने के लिए मैं प्रस्थान कर रहा हूं।

नया दृष्टिकोण प्रस्तुत हो गया—यह घर मेरा नहीं है, मेरा घर है मेरा चैतन्य, मेरा घर है मेरी आत्मा, जहां पहुंचने पर लौटना नहीं होता।

दुःख का कारण

अनेक बार दुःखी व्यक्ति कहता है—मुझे मेरा कर्म दुःख दे रहा है। शनि दुःख दे रहा है, राहू दुःख दे रहा है, पड़ौसी दुःख दे रहा है। कर्म दुःख दे रहा है, यह भी सचाई है। सौर विकिरणों का भी अपना प्रभाव होता है, वे भी मनुष्य को प्रभावित करते हैं। एक व्यक्ति कहता है—अमुक आदमी दुःख दे रहा है। इसे भी झूठ कैसे मानें? पड़ौसी रोज गालियां बकता है। हम झूठ कैसे मानें? जो सामने है, उसे झूठ कैसे माना जा सकता है किन्तु यदि हम इस सचाई में उलझ जायेंगे तो दुःख से

कभी छुटकारा नहीं पा सकेंगे। इस सचाई को समझना भी आवश्यक है—न ग्रह दुःख दे रहे हैं, न पड़ोसी दुःख दे रहा है, न कर्म दुःख दे रहा है। दुःख दे रहा है अपना अध्यवसाय। दूसरा दुःख दे रहा है, यह व्यावहारिक सचाई है। नैश्चयिक सचाई है—अपना अध्यवसाय दुःख दे रहा है।

अध्यवसाय है चेतना का परिणाम

अध्यवसाय का मतलब है चेतना का परिणाम। अध्यवसाय ने ही कर्म का दण्ड दिया है। वह मूल कारण है। हम केवल निमित्त पर अटक जाते हैं। मूल तक नहीं पहुंच पाते। कर्म का बंध अध्यवसाय करता है। जब अध्यवसाय होता है तब कर्म का बंध होता है। इस स्थिति में दुःख देने वाला कौन है? अध्यवसाय है या कर्म? दुःख या बंध का कारण है अध्यवसाय। जीव अपने अध्यवसाय से तिर्यंच, देव, मनुष्य और नरक गति का बंध करता है। पुण्य और पाप का कारण भी अध्यवसाय है।

वत्थुं पडुच्च जं पुण, अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं,
णय वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि।।
सव्वे करेदि जीवो, अज्झवसाणेण तिरियणेरइए।
देवमणुए य सव्वे, पुण्णं पावं च णेयविहं।।

कारण है अध्यवसाय

हम गहराई से सोचें। एक प्राणी पशु बना, गाय, घोड़ा, या कुत्ता बना। उसे किसने बनाया? नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव—ये चार गतियां हैं। एक जीव नरक में गया, एक पशु योनि में गया, एक मनुष्य बना और एक देवता बन गया। एक प्राणी को नरक में किसने भेजा? एक प्राणी को मनुष्य किसने बनाया? एक प्राणी को देव किसने बनाया? इसका उत्तर होगा—व्यक्ति अध्यवसाय से ऐसा बनता है। कर्म कौन होता है बनाने वाला? यदि व्यक्ति का अध्यवसाय नरक में जाने जैसा नहीं होता तो वह नरक में कभी नहीं जाता।

भगवान् महावीर ने प्रत्येक गति के चार-चार कारण बतलाये हैं। कम तोल-माप करने वाला, व्यापार में गड़बड़ी करने वाला पशु योनि में पैदा होता है। यह कथन अच्छा नहीं लगेगा। किन्तु यह सचाई है, इसे स्वीकार भी करना होगा, ऐसा स्वयं भगवान् महावीर ने कहा है।

जरूरी है जागरूकता

पशु बनने का जो अध्यवसाय है, वह पशु योनि का कारण बनता है। जब धोखाधड़ी का अध्यवसाय होता है, तोल-माप में झूठ-कपट होता है तब व्यक्ति तिर्यंच योनि में जाने योग्य कर्मों का अर्जन करता है। प्रश्न है तिर्यंच किसने बनाया? कर्म ने बनाया? पड़ौसी ने बनाया? हमने ऐसी कहानिया सुनी हैं, जिनमें किसी व्यक्ति को कबूतर बना दिया जाता है, किसी को भेड़-बकरी बना दिया जाता है। कहा जाता है— तांत्रिक शक्ति से ऐसा होता है। ये किंवदंतियां हो सकती हैं। किसी व्यक्ति के घर में गाय है, भैंस है, क्या उमने उन्हे गाय या भैंस बनाया? किसने बनाया? उमका अध्यवसाय ही उसे पशु बनाता है। बमाने वाला है अपना अध्यवसाय इसीलिए जागरूकता की जरूरत है। हम इतने जागरूक रहें कि बुरे भाव, बुरे परिणाम, बुरे कामों से बचे रहें।

दोष दूसरों पर

अगर निश्चयनय की यह बात सामने नहीं होती तो व्यक्ति हमेशा दूसगें पर दोष मढ़ता रहता। व्यवहार नय से इतना ज्यादा काम लिया गया और उससे दृष्टिकोण ऐसा बन गया कि दूसरे को देखो, अपने आपको मत देखो। अपने आपको बचाकर रखो। स्वयं को कहीं गर्म हवा न लग जाए, लू न लग जाए। कालूगणि कहा करते थे—मेरे घुटने कमजोर रह गए। बहुत कम उम्र में उन्होंने हाथ में गेड़िया ले लिया। वे कहते—अपनी मा छोगाजी का मैं इकलौता लाडला बेटा था इसलिए मा कहीं घर से बाहर नहीं जाने देती। यह भय रहता कि मेरा बेटा कही जाएगा तो ठोकर लग जाएगी, चोट लग जाएगी। यदि बच्चा खेलता-कूदता नहीं है, बच्चों के साथ कहीं जाता नहीं है, घर में ही बैठा रहता है तो उसके घुटने कमजोर ही होंगे। हम भी अपने आपको बचाकर रखते हैं, कहीं चोट नहीं लग जाए। हमने अपने आस-पास सुरक्षा के इतने कवच बना लिए हैं कि बाहर की हवा ही न लग जाए। प्रत्येक बात का दोष व्यक्ति सामने वाले पर मढ़कर अपना बचाव कर लेता है—अमुक व्यक्ति ने ऐसा कर दिया, अमुक व्यक्ति ने वैसा कर दिया। जब तक हम इस व्यवहार की धारणा को नहीं बदलेंगे तब तक हमारा दृष्टिकोण आध्यात्मिक नहीं बनेगा, निश्चय का दृष्टिकोण नहीं बनेगा।

पुरुषार्थ का प्रश्न

निश्चय का दृष्टिकोण जागे बिना अपने पुरुषार्थ को जगाने की बात संभव नहीं बनती। जब तक हम अपना पुरुषार्थ नहीं जगा लेते, अपनी शक्ति को नहीं जगा लेते तब तक कोई भी हमारी सहायता करने नहीं आयेगा। वेदों का एक महत्त्वपूर्ण वचन है—जो अकर्मण्य होता है, देवता भी उसका सहयोग नहीं करते। देवता उसी का सहयोग करते हैं, जो पुरुषार्थी होता है। हम केवल निमित्तों के भरोसे पंगु जैसे बन गये हैं, गतिशून्य बन गए हैं। हमारी पुरुषार्थ-चेतना सोई हुई है। निश्चयनय पर पहुंचे बिना गति और पुरुषार्थ की बात प्राप्त नहीं होती। हम इस वास्तविक सचाई पर पहुंचें कि हमारी आत्मा ही सुख की कर्त्ता है, हमारी आत्मा ही दुःख की कर्त्ता है।

आरोपण व्यवहार में

अर्हत्-वंदना का महत्त्वपूर्ण पाठ है:—**अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।** आत्मा ही सुख-दुःख की कर्त्ता है और आत्मा ही सुख-दुःख का नाश करने वाली है। समस्या यह है कि हमने आत्मा को भुला दिया और दूसरों को उसके स्थान पर लाकर बिठा दिया। हम प्रत्येक बात में केवल दूसरों को देखते हैं। बहुत लोगों से हम सुनते हैं—अमुक व्यक्ति ने कोई ऐसा टोना-टोटका करा दिया, मेरी स्थिति ही गड़बड़ा गई, मेरा व्यापार अस्त-व्यस्त हो गया। अनेक व्यक्ति कहते हैं—मेरे घर के व्यक्ति ने मुझ पर यह कर दिया, जिससे मेरी स्थिति दयनीय बन गई। प्रत्येक कार्य में व्यक्ति दूसरों की भूमिका को देखता है, अपनी कमजोरियों पर ध्यान नहीं देता। व्यक्ति की अपनी भी बहुत सारी कमजोरियां होती हैं किन्तु उन्हें नहीं देखता, अपनी स्थिति को दूसरों पर लाद देता है, आरोपित कर देता है। व्यवहारनय में यह आरोपण चलता है। जब तक इस आरोपण की वृत्ति से नहीं छूटा जाएगा तब तक हम समस्याओं का समाधान नहीं कर पाएंगे, दुःखों से छुटकारा भी नहीं पा सकेंगे।

दुःख मुक्ति का मार्ग

दुःखों से छुटकारा पाने का मार्ग है—वास्तविकता तक पहुंचना, आरोपण न करना, जिस स्थान पर जो है, उसे समझने और जानने का प्रयत्न करना। वास्तविक सत्य है—प्रत्येक व्यक्ति अपने शुभ-अशुभ परिणाम से, अपने अध्यवसाय से नरक में जाता है, पशु बनता है, मनुष्य बनता है, देवता बनता है। व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने अध्यवसाय

को विशुद्ध रखे+ अपनी भावधारा, अपनी विचारधारा को पवित्र बनाये रखे किन्तु वह व्यवहार की बातों में उलझ गया। उसने दूसरों पर सारा दोषारोपण करना शुरू कर दिया। इस स्थिति में निश्चयनय का विकास नहीं हो सकता।

नीतिशास्त्र में कहा गया—जो पिता अपने पुत्र को योग्य बना देता है, वह बहुत अच्छा है और जो पिता अपने पुत्र के लिए बहुत सारी संपत्ति छोड़ देता है, पुत्र को योग्य नहीं बनाता, वह अपने लड़के का सबसे बड़ा शत्रु है।

चिंतन का कोण

नीति-शास्त्र का प्रसिद्ध श्लोक है—

माता शत्रुः पिता वैरी, येन बालो न पाठितः।

नीति शास्त्र में कहा जाता है—वह मां शत्रु है, पिता दुश्मन है जिसने अपने बेटे को नहीं पढ़ाया, योग्य नहीं बनाया, तैयार नहीं किया। यह बहुत सच बात है। जो लड़के को तैयार नहीं करते, केवल धन दे देते हैं, वस्तुत वे उसके साथ दुश्मनी का भाव बरतते हैं।

विदेशों में लड़के की तैयारी पर बहुत ध्यान दिया जाता है। अपनी संपत्ति अपने लड़के को नहीं देते हैं। ऐसी प्रथा है—नौकर के नाम वसीयत लिख देते हैं, ड्राईवर के नाम लिख देते हैं। अपने लड़कों के नाम वसीयत लिखने की प्रथा शायद बहुत कम होगी। पुत्र भी अपेक्षा नहीं रखते कि पिता की संपत्ति हमें मिले। हिन्दुस्तान में बहुत सारे पुत्र निकम्मे हो जाते हैं। वे सोचते हैं, धन तो मिल ही जाएगा। यह चिंतन और दृष्टि आरोपण की प्रक्रिया में से निकलती है।

महत्त्वपूर्ण बात

व्यवहारनय और निश्चयनय सत्य की खोज की दो दृष्टियां हैं और दोनो सत्य हैं किन्तु हमें व्यवहार की सचाई को अन्तिम सचाई नहीं मानना चाहिए। हमे व्यवहार से निश्चयनय की सचाई तक जाना है। यह बहुत महत्त्वपूर्ण बात है। इस पर आचार्य कुन्दकुन्द ने जो बल दिया, उसे मैं बहुत महत्त्वपूर्ण मानता हूं। अगर निश्चयनय पर इतना बल नही होता तो हम धर्म के मामले में स्थूल बन जाते, केवल ऊपर की बातों में अटक जाते।

एक लौकिक आदमी, धर्म को न मानने वाला यह कहता है—उसने

मेरा बिगाड़ कर दिया तो बात समझ में आ सकती है पर एक धार्मिक और आध्यात्मिक आदमी यह बात कहता है तो समझने में कठिनाई होती है।

संतुलन बनाएं

हम अपने आपको तौलें, हमारी कौनसी दृष्टि जागी है? व्यवहार की दृष्टि जागी है या निश्चय की दृष्टि जागी है? जो महावीर का शिष्य है, उसमें निश्चयनय की दृष्टि जागनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति सोचे कि मेरा अध्यवसाय कैसा रहा है? जो व्यक्ति अपने अध्यवसाय तक चला जाता है, वह दूसरों पर आरोपण नहीं करता। जो अपने कार्य का बीज अपने आप में ही खोजने का प्रयत्न करता है, वह बच जाता है, दूसरों में कमी देखने वाला कभी बच नहीं पाता।

अपेक्षा है—हम जीवन में संतुलन बनाएं। एक पांव से न चलें, एक आंख से न देखें, एक ही हाथ को ऊपर न उठाएं। दो हाथ, दो पांव, दो आंख, दो कान बराबर काम करे तो व्यवहार और निश्चयनय की सचाई का संतुलन बन जाए। यह सतुलन ही हमारा सुरक्षा कवच बनेगा, विकास की दिशा को स्पष्ट करेगा। □

संकलिका 7

- वेदन्तो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा।
  सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं।।
  (समयसार - ३८९)
- धर्म की कला : कर्मफल भोगने की कला
- दुःख क्यों आता है?
- दुःख में दुःखी न बनें
  सुख में सुखी न बनें
- पुण्य का फल : राग
- पाप का फल : द्वेष
- बंधन की श्रृंखला
- चक्रवर्ती भरत का निदर्शन
- घटना सनतकुमार की
- धर्म का मर्म
- परम आचरण है समता
- सुखी होना : दुःख को आमंत्रण देना
- विधायक दृष्टि जागे

कर्म-फल भोगने की कला

भारतीय साहित्य में पुरुषों के लिए ४६ कलाएं और स्त्रियों के लिए ७२ कलाएं मानी गई हैं। स्वस्थ जीवन जीने के लिए कलाओं का बड़ा मूल्य है। जो व्यक्ति कला का मूल्यांकन करना नहीं जानता, वह सरस जीवन जीने का मूल्यांकन नहीं कर सकता। स्फूर्ति, आनन्द, प्रसन्नता—इन सबके लिए कला को आवश्यक माना जाता है। एक आचार्य ने लिखा—जो व्यक्ति सारी कलाओं को जानता है परन्तु धर्म की कला को नहीं जानता, उसकी सारी कलाएं व्यर्थ हैं। यह धर्म की कला क्या है, जिसको जाने बिना सारी कलाए व्यर्थ और अर्थहीन बन जाती हैं? इस धर्म-कला को एक वाक्य में अभिव्यक्ति दी जाए तो वह है कर्म-फल भोगने की कला।

धर्म की कला

जो व्यक्ति कर्म-फल भोगने की कला को जानता है, वह व्यक्ति धर्म की कला को जानता है। जो कर्म-फल को भोगना नहीं जानता, वह धर्म की कला को नहीं जानता। इसे दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है—जो बन्धन से मुक्ति पाने की कला को जानता है, वह धर्म की कला को जानता है। कर्म का बन्धन होता है राग और द्वेष से। पुण्य का फल उदय में आया तो राग पैदा हो गया, पाप का फल उदय में आया तो द्वेष पैदा हो गया। राग, द्वेष, पुण्य और पाप—इस श्रृंखला का कभी अन्त नहीं होता। आदमी पुण्य का फल भोगता हुआ उन्मत्त हो जाता है। वह पाप का फल भोगता है तो घृणा करता है। पुण्य का फल भोगता है तो राग को बल मिलता है। पाप का फल भोगता है तो द्वेष को बल मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि राग और द्वेष का अस्तित्व बनाए रखने के लिए कई ऐसे माध्यम मिल गए हैं इसीलिए पुण्य और पाप आदमी को बराबर बंधन में बांधे हुए हैं। जब तक आदमी कर्म-फल भोगने की कला नहीं सीखेगा तब तक इस बन्धन की श्रृंखला को तोड़ा नहीं जा सकेगा।

जीवन के दो घटक तत्त्व

हमारे जीवन के दो मुख्य घटक हैं—सुख और दुःख। आदमी सुख चाहता है, दुःख नहीं चाहता। सरस जीवन चाहता है, नीरस जीवन नहीं चाहता। हमारे सामने प्रश्न है—क्या किसी व्यक्ति ने ऐसा जीवन जिया है, जिसमें जीवन में सुख ही सुख आया हो, दुःख आया ही नहीं हो? शायद दुनिया में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिलेगा। एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिलेगा, जिसने जीवन में केवल सुख ही सुख भोगा हो, दुःख का अनुभव नहीं किया हो। ऐसा भी व्यक्ति नहीं मिलेगा, जिसके जीवन में केवल दुःख ही दुःख आए हों, सुख न आया हो। प्रश्न हो सकता है—व्यक्ति सुख ही सुख चाहता है, फिर दुःख क्यों आता है? इस प्रश्न का सीधा-सा उत्तर है—जो सुख चाहता है, वह दुःख भी चाहता है। यह निश्चित तथ्य है, एक के बिना दूसरा होता ही नहीं है।

प्रश्न बन्धन से मुक्ति पाने का

प्रश्न है—बन्धन को कैसे तोड़ा जा सकता है? आचार्य ने उत्तर दिया—जो व्यक्ति कर्म का फल भोगते समय, पुण्य का फल भोगते समय, सुखी नहीं बनता और पाप का फल भोगते समय दुःखी नहीं बनता, वह इस बन्धन की श्रृंखला को तोड़ने की दिशा उद्घाटित कर लेता है। सुख के समय सुखी न बनना और दुःख के समय दुःखी न बनना, बन्धन से मुक्ति पाने की कला है और यही धर्म की कला है।

जब दुःख का विपाक और दुःख का फल मिले तब व्यक्ति दुःखी न बने, यह बात अच्छी लग सकती है किंतु सुख का फल मिले और व्यक्ति सुखी न बने, यह बात अच्छी नहीं लगती। प्रत्येक आदमी सुखी बनना चाहता है, सुखी जीवन जीना चाहता है। सुखी जीवन चाहने वाले व्यक्ति को दुःखी जीवन जीने की तैयारी भी रखनी चाहिए।

दुःख और वेदन

हम गहरे में उतर कर देखें—असद् कर्म का फल मिलता है, आदमी दुःखी बन जाता है। शरीर में बीमारी है। असातवेदनीय कर्म का उदय हुआ और आदमी दुःखी बन जाएगा। बीमारी आने पर मनःसंताप हो जाता है, दुःख की रेखाएं खिंच जाती हैं, समस्याएं उभर आती हैं। यह क्या है? लीवर की बीमारी, कैंसर की बीमारी, हार्ट की बीमारी आदि न जाने कितने प्रकार की भयंकर बीमारियां हैं। उनसे पीड़ित होने पर मन को भारी आघात लगता है। जब बीमारीजन्य वेदना होती है , आदमी

एकदम दुःखी बन जाता है। क्या ऐसा हो सकता है, असद् कर्म का दुःख भोगे और आदमी दुःखी न बने? कहा गया—ऐसा हो सकता है और यही धर्म की कला है। यह एक ऐसी कला है, जिसे जानने पर ऐसी स्थिति बन सकती है—कष्ट आने पर भी आदमी दुःखी न बने, असद् कर्म का वेदन करने पर भी आदमी दुःखी न हो।

चक्रवर्ती का सौंदर्य

चक्रवर्ती सनत्कुमार की घटना प्रसिद्ध है। वे बहुत ही नाटकीय ढंग से मुनि बने। उन्हें अपने सौन्दर्य पर बड़ा अहंकार था। वे गर्व से कहा करते थे—इस दुनियां में मेरे से अधिक सुन्दर दूसरा कोई नहीं है। सुन्दरता का भी अहंकार होता है। वस्तुतः शरीर के भीतर मल ही मल जमा हुआ है। यह जानते हुए भी व्यक्ति सुन्दरता के अहंकार में डूबा रहता है। चक्रवर्ती के सौन्दर्य की महिमा पूरे संसार में फैल गई। कहा जाता है—एक देव बूढ़े ब्राह्मण का रूप बनाकर चक्रवर्ती का सौन्दर्य देखने आया। उसने चौकीदार से कहा—मैं चक्रवर्ती के दर्शन करना चाहता हूं।

चौकीदार ने जवाब दिया—अभी व्यक्तिगत समय है, चक्रवर्ती के दर्शन नहीं हो सकते। उनके दर्शन कल राज्यसभा में होंगे।

ब्राह्मण बोला—तुम मेरी अभिलाषा-पूर्ति में सहायक बनो, चक्रवर्ती तक मेरी यह बात पहुंचा दो—आपके दर्शनों की आकांक्षा लिए एक ब्राह्मण जवानी अवस्था में दूर देश से चला था और चलते-चलते अब बूढ़ा हो गया है। पता नहीं, वह जिएगा या नही।

अहंकार की भाषा

चौकीदार का मन पसीज गया। उसने ब्राह्मण की प्रार्थना चक्रवर्ती तक पहुंचा दी। चक्रवर्ती का मन भी करुणा से भर गया। उन्होंने तत्काल ब्राह्मण को बुला भेजा। ब्राह्मण ने चक्रवर्ती के कक्ष में प्रवेश किया। वह चक्रवर्ती के सौन्दर्य को देखते ही स्तब्ध रह गया। ब्राह्मण एकटक चक्रवर्ती को देखने लगा। चक्रवर्ती का सोया अहंकार जाग उठा। सनत्कुमार ने ब्राह्मण से कहा— अरे! तुम मेरे सौन्दर्य को अभी क्या देखते हो? कल जब मैं स्नान कर, राजसी वस्त्र और अलंकार पहन राज्यसभा में रत्नजटित सिंहासन पर बैठूं तब मेरा सौन्दर्य देखना, तुम्हारा मन तृप्त हो जाएगा।

चक्रवर्ती के निर्देश से ब्राह्मण के ठहरने आदि की समुचित व्यवस्था

हो गई। दूसरे दिन चक्रवर्ती ने अतिरिक्त तैयारी की, अपनी साज-सज्जा पर विशेष ध्यान दिया। वे अनेक बार शीशे में अपने सौन्दर्य को देखते रहे, परखते रहे, गर्व से उन्मत्त बनते रहे। आदमी जब-जब शीशे के सामने जाता है तब-तब आधा पागल-सा बन जाता है।

अहंकार : परिणाम

चक्रवर्ती पूरी साज-सज्जा के साथ राज्यसभा में पहुंचे, वे राज-सिंहासन पर बैठ गए। उन्होंने ससम्मान ब्राह्मण को बुलाया। ब्राह्मण ने चक्रवर्ती को देखा। उसका मन घृणा से भर उठा। चक्रवर्ती ब्राह्मण की मुख-मुद्रा देखकर दंग रह गए। उन्होंने ब्राह्मण से कहा—आज मेरा सौन्दर्य देखने जैसा है, क्या तुम्हे अच्छा नहीं लगा?

राज़न्! कल वाला सौन्दर्य चला गया। कल आप बहुत सुन्दर थे। आज सारा सौन्दर्य गायब हो गया है।

चक्रवर्ती ने सोचा—बुढ़ापे के साथ-साथ बुद्धि भी सठिया जाती है। जब कल मैं सामान्य स्थिति में था तब इसे सुन्दर लग रहा था और आज साज-सज्जा से युक्त हूं तब यह कह रहा है—रूप चला गया, सौन्दर्य चला गया। चक्रवर्ती ने कहा—ब्राह्मण! कुछ निकट आकर देखो, गौर से देखो।

राजन्! क्या देखूं! अब वह रूप नहीं रहा।

कैसे नहीं रहा?

आप पीकदान मंगवाएं और उसमें थूक कर देखें।

सनत्कुमार ने पीकदान में थूका। उन्होंने देखा—लट और कीड़े किलबिला रहे हैं।

सनत्कुमार ने कहा—यह क्या हुआ?

महाराज! जिन सोलह बीमारियों को भयंकर माना जाता है, वे सारी की सारी एक साथ आपके शरीर में पैदा हो गई हैं। आपका सौन्दर्य नष्ट हो चुका है।

परम आचरण है समता

चक्रवर्ती सन्न रह गए। उनका अहंकार चूर-चूर हो गया। मन वैराग्य से भर गया। वे राज-पाट को छोड़कर मुनि बन गए। कठोर साधना कर अपने आपको भावित कर लिया।

एक व्यक्ति पचास दिन भूखा रह सकता है पर समता की साधना नहीं कर सकता। समता की साधना सबसे कठोर साधना है। आचार्य सोमदेव ने नीतिवाक्यामृत में लिखा—समता परमं आचरणं। परम आचरण है समता। सुख-दुःख आदि सब स्थितियों में सम रहने की साधना सहज नहीं है।

सनत्कुमार समता की साधना में निमग्न हो गए। एक ओर रूप का गर्व समाप्त हुआ तो दूसरी ओर समता की साधना में उत्कर्ष आ गया।

धर्म की कला : निदर्शन

कहा जाता है—वही बूढ़ा ब्राह्मण वैद्य का रूप बना कर मुनि के सामने प्रस्तुत हुआ। उसने मुनि से निवदेन किया—मुनिप्रवर! मैं कुशल चिकित्सक हूं। दूरं से ही आपको देखकर मैं जान गया हूं—आप बीमार हैं। आप कुष्ठ जैसे भयंकर रोग से ग्रस्त हैं? आप आज्ञा दें, मैं आपकी चिकित्सा कर आपकी काया को कंचन बना दूंगा।

मुनि सनत्कुमार बोले—वैद्यवर! मुझे चिकित्सा की जरूरत नहीं है।

वैद्य ने पुनः चिकित्सा का आग्रह किया।

मुनि ने उसके आग्रह को अस्वीकार करते हुए कहा—वैद्यवर! आप क्या चिकित्सा करेंगे?

मुनि ने अपने मुंह में अंगुली डाली। जहां कुष्ठ झर रहा था, उस पर थूक के कुछ छींटे डाले। देखते-देखते वहां का रूप कंचन जैसा बन गया।

मुनि कष्टों को सहते जा रहे थे। उनके अशुभ कर्म का विपाक हुआ पर वे दुःखी नहीं बने। यह है धर्म की कला।

समस्या का कारण

अशुभ कर्म का विपाक होते पर, दुःख के प्रस्तुत होने पर दुःखी नहीं होना, समता के साथ कर्म-फल को भोगना धर्म की कला को जाने बिना सम्भव नहीं बनता। आज का मानव उस कला से परिचित नहीं है इसीलिए समस्याएं विकराल बन जाती हैं। थोड़ा-सा सिरदर्द होता है तो व्यक्ति घरवालों की ही नहीं, पड़ौसियों की नींद भी हराम कर देता है।

एक आदमी का रेल से अंगूठा कट गया। वह चीखा, चिल्लाया। पास बैठे एक अधिकारी ने कहा—कितने अधीर और कमजोर हो! कल एक आदमी का सिर फट गया था। उसने उफ् तक नहीं की और तुम

थोड़ा-सा अंगूठा कट जाने पर भी चीख-चिल्लाकर सबको परेशान कर रहे हो।

व्यक्ति की मनः स्थिति

कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो कर्म-फल को भोगना नहीं जानते। जो व्यक्ति अशुभ कर्म-विपाक को भोगने की कला को जान लेता है, वह धर्म की कला को जान लेता है। कर्म के फल को कैसे भोगना चाहिए, जो इस बात को समझ लेता है, उसमें महानता और उदारता—दोनों उद्भूत हो जाती हैं। समस्या यह है—व्यक्ति कर्म-फल को भोगते समय अपने विवेक का उपयोग नहीं करता। पुण्य का उदय आता है, व्यक्ति अहंकार से भर जाता है। वह आदमी को भी आदमी नहीं समझता। यह कितनी तुच्छता है! पुण्य के फल को भोगने का जो अविवेक है, उसमें व्यक्ति की यह मनःस्थिति बनती है।

आचार्य कुन्दकुन्द का दृष्टिकोण

इस सन्दर्भ में आचार्य कुन्दकुन्द ने जो सूत्र दिया, वह बहुत महत्वपूर्ण है—

वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा।
सो तम पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं।।

जो व्यक्ति कर्म फल को भोगता हुआ सुखी और दुःखी बनता है, वह पुनः आठ प्रकार के कर्मों को बांध लेता है।

धर्म के मर्म को वही व्यक्ति जान सकता है, जो सुख और दुःख की स्थिति में भी सुखी और दुःखी न बने। जब पुण्य का फल आता है, व्यक्ति को सुविधा और सामग्री मिल जाती है किन्तु उसमें सुखी होने का गर्व न करना सबसे बड़ी कला है।

सन्दर्भ भरत चक्रवर्ती का

भरत चक्रवर्ती ने बहुत बड़े राज्य का संचालन किया। उनके पास अपार वैभव और ऐश्वर्य था। उनके पास चौदह अलभ्य रत्न थे। एक रत्न ऐसा था, जिससे सुबह बीज बोए जाते और शाम को फसल काट ली जाती। एक दिन में फसल पैदा हो जाती, अनाज सुलभ हो जाता। एक रत्न था चर्म रत्न। नदी को पार करना होता तो नौका की जरूरत नहीं होती। चर्म-रत्न को बिछाते ही नदी पर पुल सा बन जाता। सैनिक उस पर बैठकर नदी पार कर लेते। एक रत्न था चेजारा रत्न। मकान

बनाने की अपेक्षा होती तो चेजारा रत्न का उपयोग किया जाता। वह देखते-देखते बड़े-बड़े मकान तैयार कर देता, हजारों सैनिक उन मकानों में रह जाते। ऐसे चौदह रत्न चक्रवर्ती भरत के पास थे। वैभव और विलास की समग्र सुविधाओ के अधिकारी होते हुए भी चक्रवर्ती भरत मोक्ष में गए।

मोक्ष में कौन जाएगा?

एक व्यक्ति ने भगवान् ऋषभ से पूछा—भंते! इस परिषद् में मोक्ष में जाने वाला कौन है?

भगवान् ने सीधा उत्तर दिया—चक्रवर्ती भरत। वह व्यक्ति इस उत्तर से क्षुब्ध हो उठा। उसने कहा—भगवान् के घर में भी पक्षपात चलता है। इतने बड़े त्यागी-तपस्वी लोग बैठे हैं, फिर भी भरत को ही मोक्ष का अधिकारी बताया है। उसने परिषद् के मध्य भगवान् पर आक्षेप कर डाला। उस आदमी को भरत के निर्देश पर अधिकारियों ने पकड़ लिया। दूसरे दिन उसे राज्यसभा में उपस्थित किया गया। भरत ने पूछा—तुमने भगवान् की अवज्ञा की?

भरत के इस प्रश्न से वह भयभीत बन गया। उसने कोई जवाब नहीं दिया।

जहां दण्ड-शक्ति होती है, वहां आदमी मौन हो जाता है।

चक्रवर्ती ने दण्ड सुनाया—इसे फांसी दे दी जाए।

वह व्यक्ति घबरा गया।

कठिन शर्त

चक्रवर्ती ने बात को मोड देते हुए कहा—इस दण्ड से बचने का एक उपाय है। अगर एक तेल से भरा कटोरा लेकर अयोध्या के सारे बाजारों मे घूमो, उसमें से एक बूंद भी नीचे न गिरे और पूरे नगर में घूम कर वापस यहा तक आ जाओ तो मुक्तिदान—क्षमादान मिल सकता है।

बचने के लिए इस कठिन विकल्प को स्वीकार करना उसकी विवशता थी। उसने तेल से भरा कटोरा ले लिया और शहर की परिक्रमा शुरू कर दी। साथ में नंगी तलवारों से लैस सिपाही चल रहे थे। चक्रवर्ती भरत का आदेश था—जहा भी एक बूंद गिरे, इसका सिर काट दिया जाए।

एक ओर वह मौत के साये में चल रहा है, दूसरी ओर चक्रवर्ती के

आदेश से नगर में गाना-बजाना, राग-रंग चल रहा है।

वह पूरे नगर में घूमकर सकुशल पहुंच गया, कटोरे से एक भी बूंद नीचे नहीं गिरी।

चक्रवर्ती ने पूछा—नगर को देखा? क्या-क्या देखा? क्या-क्या सुना?

वह बोला—केवल मौत को देख रहा था। केवल मौत की आवाज सुनी। न कुछ देखा, न कुछ सुना। आपकी शर्त को पूरा कर, आपके पास पहुंचकर ऐसा लगता है – अमर हो गया।

चक्रवर्ती ने कहा—इतने बढ़िया-बढ़िया नाटक हो रहे थे, तुमने नाटक नहीं देखा?

नाटक देखता या जीवन को देखता? मौत ही मौत दिख रही थी।

चक्रवर्ती ने कहा—जाओ! तुम मुक्त हो। भरत किसी को मारना नहीं चाहता। तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देने के लिए ही मैंने इतना बड़ा उपक्रम रचा है। तुमने क्या समझा?

मैं कुछ नहीं समझ सका।

रहस्य का अनावरण

चक्रवर्ती भरत बोले—तुम्हारे सामने एक मौत का प्रश्न था, फिर भी तुम्हारा न गाने में रस था, न नाच में रस था और न नाटक में रस था, तुम्हारा सारा रस मौत के साथ जुड़ गया। यही स्थिति मेरी है। मैं इतना बड़ा चक्रवर्ती हूं, इतना बड़ा राज्य संभाल रहा हूं किन्तु मेरा रस न तो भोगों में है, न राज्य में है, न किसी और पदार्थ में है। जितना पुण्य का फल भोग रहा हूं, उसमें मेरा कोई रस नहीं है। मेरा रस केवल बंधन से छुटकारा पाने में है। दिन-रात मेरे मस्तिष्क में बंधन-मुक्ति का प्रश्न चक्कर लगाता रहता है इसलिए सारे जीवन-व्यवहार को चलाते हुए भी मैं उसमें लिप्त नहीं हूं।

घटना से जुड़ी सचाई

इस घटना से यह सचाई अभिव्यक्त होती है—पुण्य का फल भोगते समय जिस व्यक्ति का भोगों के साथ रस नहीं जुड़ता और पाप का फल भोगते समय दु:खों और कष्टों के साथ एक वेदना, तड़प, आक्रोश और भय का भाव नहीं जुड़ता, वह व्यक्ति धर्म की कला को जानता है, बन्धन से छुटकारा पाने की कला को जानता है।

लौकिक धारणा है—व्यक्ति मनुष्य का जीवन जीए तो उसे सुख का

जीवन जीना चाहिए, उसे सारे पदार्थों को भोगना चाहिए। यह तर्क दिया जाता है—भगवान् ने पदार्थ बनाए किसलिए हैं? कुछ लोग अति तर्क में भी चले जाते हैं। उनसे कहा जाए—मांस नहीं खाना चाहिए। उत्तर मिलेगा—भगवान् ने मांस बनाया किसलिए है? संतजन त्याग का उपदेश देते हैं। जो लोग भोग में लिप्त हैं, वे इस उपदेश का मजाक उड़ाते हुए कहते हैं—संतों का यह उपदेश—त्याग करो, इसका त्याग करो, उसका त्याग करो—मान लें तो इन भोग्य पदार्थों का क्या होगा? यदि हम इन सब भोगों को नहीं भोगें तो पदार्थ किसलिए बनाए जाते हैं? इस तर्क के साथ इस तथ्य को जानना जरूरी है—पुण्य के साथ-साथ पाप का फल भी जुड़ा हुआ है। यदि पुण्य के फल को अधिकाधिक भोगना है तो पाप-फल को भोगने की तैयारी भी होनी चाहिए। बाएं हाथ में घोड़ा है तो दाएं हाथ में गधा भी हो सकता है। हमारी दुनिया का यह नियम नहीं है कि हाथ में केवल घोड़ा ही आए, गधा न आए। सुख भोगने के लिए जितनी अकुलाहट है, दु:ख भोगने की भी उतनी तैयार रहनी चाहिए।

सुखी होना दु:ख को आमंत्रण देना है

एक सुन्दर मार्ग बतलाया गया—जब पुण्य का विपाक आता है, उदय आता है तब सुविधा भी मिलती है। व्यक्ति उसे भोगता है किन्तु वह उसमें इतना आसक्त न बने, सुख भोगने में ही लिप्त न हो जाए, जिससे पुण्य के फल का भोग सघन पाप का कारण न बने। बहुत लोग ऐसे होते हैं, जो बड़े सुख को ही नहीं, खाने-पीने जैसे छोटे सुख को भी नहीं छोड़ सकते। सुख को छोड़ा नहीं जा सकता पर सुख-भोग के समय यह चेतना जाग जाए— पुण्य के सुख भोग कर सुखी होना दु:ख को आमंत्रण देना है। यह बोध आवश्यक है। हम पुण्य के उदय होने पर प्रत्येक सुख को भोगें ही नहीं और पाप का परिणाम आए तो उसे भी नहीं भोगें।

अशुभ कर्म कैसे भोगें

व्यक्ति को क्रोध आता है। क्रोध अशुभ कर्म का विपाक है। बाहरी निमित्त मिलता है और क्रोध उभर आता है। कोई निमित्त बना, किसी ने गाली दी, थप्पड़ मारा और क्रोध उभर आया। इसका मूल कारण है—मोहनीय कर्म का विपाक। क्रोध चाहे निमित्त से उभरे या उपादान के कारण—उसे न भोगना धर्म की कला है। अशुभ कर्म का विपाक आए और क्रोध न आए, यह है क्रोध को न भोगना, अशुभ कर्म को न

भोगना। अशुभ कर्म का विपाक आया और क्रोध कर लिया, यह है अशुभ कर्म को भोग लेना।

हृदय रोग : भावात्मक कारण

आज अनेक नई-नई बातों पर विज्ञान की खोजें हो रही हैं, जिन्हें देखकर आश्चर्य होता है। हृदय-रोग के बारे में कुछ तथ्य सामने आए हैं। हृदय रोग भी अशुभ कर्म के विपाक को भोगने से होता है। क्रोध, आक्रामक प्रतिस्पर्धा– ये हृदय रोग के मुख्य कारण बनते हैं। हृदय रोग के और अनेक कारण हैं किन्तु भावनात्मक कारणों में ये मुख्य कारण बनते हैं। उसका एक कारण है असहिष्णुता। किसी ने अप्रिय बात कह दी, व्यक्ति ने अपने मन में गांठ बांध ली और उसने सामने वाले व्यक्ति को क्षमा नहीं किया। आज की यह मुख्य समस्या है—क्षमा करना कोई जानता ही नहीं है। पहले क्षमा करना धर्म का तत्व था, आज यह चिकित्सात्मक तत्व बन गया है। जो हृदय-रोग या कैंसर जैसी बीमारियों से बचना चाहता है, उसे क्षमा करना सीखना चाहिए। अगर व्यक्ति क्षमा करना नहीं सीखेगा, गांठ बांध लेगा तो उसका विपाक किसी न किसी बीमारी के रूप में उभरकर सामने आएगा।

जीवन की कला

पुण्य की स्थिति में आदमी को कैसा जीवन जीना चाहिए और पाप का परिणाम सामने आए, तब कैसा जीवन जीना चाहिए—इस सन्दर्भ में जैन आचार्यों ने महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शन दिया। सुख और दुःख—इन दोनों स्थितियों में जो सम रहना नहीं जानता, आसक्ति और पीड़ा से मुक्त रहना नहीं जानता, वह न जीवन की कला को जानता है, न धर्म की कला को जानता है और न बन्धन से छुटकारा पाने की कला को जानता है। कर्म फल भोगने की कला ही धर्म की कला है। जो इस कला को सीख लेता है, वह बहुत दुःखों से बच सकता है। जीवन में कठिनाइयां आ सकती हैं, बीमारिया आ सकती हैं पर इन सारी परिस्थितियों में भी आदमी प्रसन्न रह सकता है।

समयसार : जीवन जीने का दृष्टिकोण

पैर से अपाहित एक भिखारी सदा प्रसन्न और खुश रहता था। एक व्यक्ति ने पूछा—अरे भाई! तुम भिखारी हो, लंगड़े भी हो। तुम्हारे पास कुछ नहीं है, फिर भी तुम इतने खुश रहते हो। क्या बात है? वह बोला—बाबूजी! भगवान् का शुक्र है कि मैं अन्धा नहीं हूं। मैं चल नहीं

सकता पर देख तो सकता हूं।

जिसे कठिनाइयों को भोगने की विधायक दृष्टि प्राप्त हो जाती है, वह सचमुच धर्म की कला को जान लेता है, कर्म-फल भोगने की कला को जान लेता है। किस प्रकार सुख की अवस्था में गर्व से मुक्त रहें और किस प्रकार दुःख की अवस्था में प्रसन्न बने रहें, दीन-हीन न बनें—यह छोटी-सी बात समझ में आ जाती है तो मानना चाहिए— जीवन जीने की सबसे बड़ी कला समझ में आ गई। जीवन जीने का यह दृष्टिकोण आचार्य कुन्दकुन्द-प्रणीत समयसार से सहज फलित होता है। □

संकलिका 8

- अहमेक्को खलु सुद्धो, णाणदंसणसमग्गो।
  तम्हि ठिदो तच्चित्तो, सव्वे एदेखयं णेमि।।
  (समयसार- ७३)
- एगो में सासओ अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
  सेसा में बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा।
- प्रश्न शान्त सहवास का
- चेतना का परिष्कार
- चेतना के दो रूप
  - व्यक्ति चेतना
  - सामुदायिक चेतना
- व्यक्ति चेतना के दो अर्थ
  - अध्यात्म चेतना : परमार्थ चेतना
  - स्वार्थ चेतना
- सामाजिक चेतना की सीमा
- अध्यात्म चेतना की सीमा
- संयुक्त परिवार : विघटन का कारण
- शांतिपूर्ण सहवास का सूत्र : अध्यात्म चेतना का विकास

परिवार के साथ कैसे रहें?

प्रश्न है शान्त सहवास का

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह समाज के साथ जीता है। समाज की सबसे छोटी इकाई है परिवार। परिवार सामंजस्य का एक प्रयोग है। यदि व्यक्ति दो-चार व्यक्तियों के साथ शांतिपूर्ण जीवन जी सकता है तो वह बड़े समूह के साथ भी शांतिपूर्ण जीवन बिता सकता है। यदि परिवार में कलह, लड़ाई-झगड़ा, रोना-रुलाना— यह सब चलता है तो उसका जीवन नारकीय जैसा बन जाता है। शांतिपूर्ण जीवन के लिए यह जरूरी है कि व्यक्ति परिवार के साथ शांतिपूर्ण ढंग से रहे, इसीलिए शांत सहवास का सूत्र दिया गया। शांतिपूर्ण सहअस्तित्व का सूत्र दिया गया— एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के साथ शांतिपूर्ण ढंग से रहे और सह-अस्तित्व को स्वीकार करे। जब परिवार में ही शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व नहीं होता है तब समाज, राष्ट्र या अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वह कैसे संभव है? प्रशिक्षण का पहला पाठ है— व्यक्ति परिवार के साथ शांतिपूर्ण ढंग से रहे। प्रत्येक व्यक्ति ऐसा चाहता है पर चाहते हुए भी वह ऐसा नही बन पाता। प्रश्न होता है— ऐसा क्यों नहीं होता? जीवन शांतिपूर्ण क्यों नहीं बनता? इसका कारण क्या है?

अशान्ति का कारण

हम कारणों पर विचार करें। कारण की समीक्षा किए बिना इस समस्या को मिटाया नहीं जा सकता। अशांति का कारण है— चेतना का अपरिष्कृत होना। आदमी शरीर, वाणी और मन के साथ जीता है। इन सबसे आगे है हमारी चेतना। जब तक चेतना का परिष्कार नहीं होता, शरीर भी गंदला-गंदला सा रहता है, वाणी भी अपवित्र और गंदी सी रहती है, मन भी निर्मल नहीं बनता। ये सब चेतना के द्वारा संचालित हैं। चेतना परिष्कृत होती है तो ये सारे निर्मल बन जाते हैं। चेतना अच्छी नहीं होती है तो ये भी अच्छे नहीं बनते। चेतना का परिष्कार नहीं है, विवेक जागृत नहीं है, बुद्धि इतनी विकसित नहीं है कि हम सचाई को ठीक से समझ सकें इसीलिए परिवार में संबंधों का जोड़-तोड़ चलता रहता है।

चेतना के दो रूप

चेतना के दो रूप हैं— व्यक्ति चेतना और सामुदायिक चेतना।

व्यक्ति-चेतना के भी दो अर्थ हैं। उसका एक अर्थ है अध्यात्म-चेतना, परमार्थ की चेतना और उसका दूसरा अर्थ है, स्वार्थ-चेतना। परमार्थ चेतना है– मैं अकेला हूं, अकेला जन्मा हूं, अकेला सुख दुःख भोगता हूं, अकेला ही आया हूं, अकेला ही चले जाना है, मेरी आत्मा अकेली है, कोई साथी संगी नहीं है। यह सारा चिन्तन व्यक्ति-चेतना से उपजता है। वास्तव में सचाई भी यही है– कोई किसी का सुख दुःख बांट नहीं सकता। व्यक्ति किसी के प्रति संवेदना प्रकट कर सकता है पर वह किसी के दुःख को बांट नहीं सकता। पीड़ा व्यक्ति-चेतना से जुड़ी हुई सचाई है। वह व्यक्तिगत होती है। व्यक्ति-चेतना को हम एक अर्थ में अध्यात्म-चेतना कह सकते हैं। सुख दुःख, जन्म मरण—ये सारी बातें आत्मा से संबंध रखने वाली हैं।

व्यक्ति चेतना

आचार्य कुन्दकुन्द ने व्यक्ति-चेतना का बहुत सुन्दर वर्णन किया है :

अहमेक्को खलु सुद्धो, णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो।
तम्हि ठिदो तच्चित्तो, सव्वे एदे खयं णेमि।।

मैं अकेला हूं, शुद्ध आत्मा हूं, निर्ममत्व हूं, ज्ञानदर्शन से परिपूर्ण हूं। अपने इस स्वरूप में स्थित और लीन होकर ही आत्मा आश्रव-क्षय को प्राप्त होता है।

मैं अकेला हूं, बिल्कुल शुद्ध आत्मा हूं। मेरा कुछ भी नहीं है। धन, घर, परिवार, सगे-संबंधी, मित्र– कुछ भी मेरा नहीं है। इसका अर्थ है– बाह्य जगत् का अस्वीकार। व्यवहार के जगत् में यह बड़ी अटपटी सी बात लगती है। सारे संबंध व्यवहार के जगत् में जुड़ते हैं। व्यक्ति सोचता है– यह मेरा घर है, मां-बाप मेरे हैं, परिवार, धन-मकान, खेत-जमीन—ये सब मेरे हैं। समाज का मतलब है– मेरापन की भावना। समाज ममत्व की भावना से बनता है। जहां मेरापन की भावना समाप्त होती है वहां व्यक्तिगत चेतना, अध्यात्म चेतना की सीमा प्रारम्भ होती है।

व्यक्ति-चेतना का दूसरा रूप

सामुदायिक चेतना और व्यक्तिगत चेतना– ये दोनों विरोधी बातें हैं। एक है मेरापन से लिप्त जीवन और एक है मेरापन से मुक्त जीवन, जहां न मैं किसी का हूं और न कोई मेरा है, सारे संबंध समाप्त हो जाते हैं। अध्यात्म-चेतना या परमार्थ-चेतना से जीवन का व्यवहार नहीं चलता किन्तु इसके साथ यह सचाई भी जुड़ी हुई है कि यदि यह चेतना नहीं होती है तो जीवन का व्यवहार भी अच्छा नहीं चलता। व्यक्ति-चेतना का दूसरा रूप, जो समाज में विकसित हुआ है, वह है स्वार्थ-चेतना। व्यक्ति-चेतना के दो रूप बन गए। अध्यात्म-चेतना भी व्यक्ति-चेतना है और स्वार्थ-चेतना

भी व्यक्ति-चेतना है। स्वार्थ चेतना वाला व्यक्ति केवल अपने लिए सोचता है— मैं सुखी रहूं, मेरा भला हो, मेरा कल्याण हो, मेरा यह हो, मेरा वह हो, मुझे सब कुछ मिले। अपनी सुविधा, अपना सुख, अपना स्वार्थ। यह स्वार्थ-चेतना की भावना परिवार में समस्याएं पैदा कर रही हैं। परिवार में जितनी कलह होती है, उसमें यह व्यक्तिपरक स्वार्थ-चेतना मुख्य भूमिका अदा करती है। पारिवारिक विघटन और कलह स्वार्थ के ही कारण होते हैं।

वर्तमान समस्या

आज की समस्या क्या है? परिवार की समस्या क्या है? माता-पिता प्रारम्भ से बच्चों को स्वार्थ-चेतना की दिशा में ले जाते हैं। यही उपदेश दिया जाता है— कमाओ और घर भरो। परिग्रह, संग्रह तथा लोभ की वृत्ति पैदा होती है और इसका परिणाम है स्वार्थ-चेतना की प्रबलता। व्यक्ति-चेतना का जो प्रशम्न रूप है अध्यात्म-चेतना का विकास, उस दिशा में कोई प्रयत्न नहीं करते। वे इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं देते— परिवार को चलाना है, परिवार मे रहना है तो एक बच्चे में अध्यात्म के संस्कार भी रहने चाहिए, उसमें आध्यात्मिक विकास भी होना चाहिए। इस स्थिति में अध्यात्म-चेतना नहीं जागती, स्वार्थ-चेतना जागती है। वह ऐसी भ्रांति पैदा करती है कि व्यक्ति सर्वग्रासी-सर्वभक्षी बन जाता है, स्वयं ही सब कुछ हजम करने लग जाता है।

संदर्भ : संयुक्त परिवार

हम संयुक्त परिवारों का विश्लेषण करें तो हमारे सामने यह सचाई अधिक स्पष्ट होगी। संयुक्त परिवार में अनेक भाई एक साथ रहते हैं। उनमें कुछ वर्षों तक सब कुछ ठीक चलता है किन्तु बाद में स्वार्थ की चेतना इतनी गहरा जाती है कि प्रत्येक भाई सोचता है— सारा का सारा धन-वैभव मेरे हाथ लग जाए तो अच्छा रहे। हमने देखा है— जिन भाइयों में राम-लक्ष्मण सा प्रेम था, वे भी स्वार्थ-चेतना में ऐसे लिप्त हो गए, जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती थी। ऐसा क्यों होता है? जब स्वार्थ-चेतना बहुत प्रबल बन जाती है तब यह स्थिति पैदा होती है।

मस्तिष्क सामुदायिक बने

सामुदायिक जीवन जीना है तो सामुदायिक चेतना का विकास जरूरी है। सामुदायिक चेतना का जागरण तब संभव है जब मस्तिष्क सामुदायिक बने। मस्तिष्क वैसा नहीं है तो सामुदायिक चेतना कभी नहीं जाग पाएगी। सामुदायिक चेतना को जगाना है तो व्यक्ति-चेतना का परिष्कार करना होगा। उसका परिष्कार अध्यात्म-चेतना के द्वारा ही संभव है। जब यह चेतना जाग जाएगी— 'मेरा कुछ भी नहीं है', तब स्वार्थ की चेतना हावी नहीं

होगी। प्रत्येक बालक में यह चेतना जगा दी जाए— मैं अकेला हूं, मेरी आत्मा अकेली है, मेरी आत्मा ज्ञान-दर्शनमय है। मेरी आत्मा चेतनामय है। इसके अलावा मेरा कुछ भी नहीं है। न कुछ अपने साथ लाया हूं, न कुछ साथ में जाने वाला है। जो कुछ प्राप्त है, वह मात्र संयोग है।

एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा।।

जब अध्यात्म की चेतना जागती है, स्वार्थ परमार्थ में बदल जाता है। अध्यात्म- चेतना की जागृति का अर्थ है— 'मैं अकेला हूं', इस सत्य की अनुभूति हो जाए। इस स्थिति में स्वार्थ-चेतना मंद होती चली जाती है। व्यक्ति के मन में यह भावना नहीं जागती कि दूसरे का हक लूटा जाए , दूसरे का हिस्सा हड़प लिया जाए।

शांतिपूर्ण जीवन का रहस्य

यदि हम दूसरे के साथ रहना चाहते हैं तो हमारी सबसे पहली आवश्यकता होगी— अध्यात्म की चेतना का विकास। 'हम अकेले हैं,' 'अकेले आए हैं', 'अकेले जाना है'— हमारे भीतर यह संस्कार, यह भावना जितनी परिपक्व होगी, हम उतना ही परिवार या समूह के साथ शांतिपूर्ण जीवन जी सकेंगे। समयसार का यह सूत्र शांतिपूर्ण सहवास का भी महत्त्वपूर्ण सूत्र है। अध्यात्म की उपेक्षा कर, धर्म की उपेक्षा कर कोई भी व्यक्ति शांतिपूर्ण जीवन नहीं जी सकता। सामुदायिक जीवन के प्रयोग साम्यवादियों ने किए किन्तु वे विफल हो गए। अध्यात्म साथ में होता तोसाम्यवाद विफल नहीं होता। इस सचाई के आलोक में हम अध्यात्म का मूल्यांकन करें, अध्यात्ममय जीवन जीने का प्रयोग करें, शांतिपूर्ण पारिवारिक एवं सामुदायिक जीवन का रहस्य हमारे हाथ में होगा।

□

संकलिका 9

- कोहुवजुत्तो कोहो, माणवजुत्तो माणमेवादा।
  माउवजुत्तो माया, लोहुवजुत्तो हवदि लोहो।। (समयसार १२५)
- मूल्यवान् शब्द : शान्ति
- क्रोध और क्रोधी
- व्यापक है क्रोध की समस्या
- विघटन के घटक तत्त्व —
  क्रोध का आवेश
  अहंकार का आवेश
  लोभ का आवेश
- समस्या है असीमित लोभ
- आवेश-शमन का उपाय
- संश्लेषण नहीं, विश्लेषण करें
- विश्लेषण की प्रक्रिया
- दीर्घश्वास का मूल्य
- शान्त सहवास : मन की शान्ति

शांतिपूर्ण सहवास कैसे?

हमारे जीवन के शब्दकोष का सबसे मूल्यवान् शब्द है— शांति। अगर उसे निकाल दिया जाए तो हमारा जीवन भी नहीं बचेगा। यदि बचेगा तो ऐसा बचेगा, जिसे कोई जीना भी पसंद नहीं करेगा। पैसे और रोटी का, घर और कपड़े का या अन्य पदार्थों का मूल्य तभी है जब मन में शांति है। शांति नहीं होती है तो सारे मूल्य मूल्यहीन बन जाते हैं। कुछ दिन पूर्व मैं एक परिवार से बातचीत कर रहा था। मां ने पुत्र की ओर इशारा करते हुए कहा— महाराज! मेरे इस लड़के को गुस्सा बहुत आता है, यह कैसे कम हो सकता है? जब आवेग आता है, बेकाबू हो जाता है, बेहाल हो जाता है। जब जब इसे गुस्सा आता है, परिवार का पूरा वातावरण अशांत बन जाता है। जब आदमी आवेश करता है तब उसे स्वयं को अच्छा भी लग सकता है पर दूसरे को वह बिल्कुल अच्छा नहीं लगता। शांति नहीं होती है तो सचमुच परिवार की स्थिति गड़बड़ा जाती है।

क्रोध : क्रोधी

दो शब्द हैं— क्रोध और क्रोधी। क्रोध एक आवेश है और क्रोधी है क्रोध करने वाला। जब क्रोध की विकट स्थिति आती है, उस समय व्यक्ति क्रोधी नहीं बल्कि स्वयं क्रोध बन जाता है। समयसार का एक सूत्र है—

कोहुवजुत्तो कोहो, माणवजुत्तो य माणमेवादा।
माउवजुत्तो माया, लोहुवजुत्तो हवदि लोहो।।

क्रोध में उपयुक्त आत्मा क्रोध है, मान में उपयुक्त आत्मा मान है, माया में उपयुक्त आत्मा माया है, लोभ में उपयुक्त आत्मा लोभ है।

जब आत्मा क्रोध में उपयुक्त होती है, स्वयं क्रोध बन जाती है। कभी कभी क्रोध का ऐसा विकराल रूप आता है कि व्यक्ति का पूरा शरीर क्रोधमय बन जाता है। राजस्थान पुलिस एकेडेमी में प्रेक्षाध्यान शिविर चल रहा था। उसमें पुलिस के अनेक वरिष्ठ अधिकारी भाग ले रहे थे। उनमें एक सब-इंसपेक्टर थे। वे क्रोध की समस्या से परेशान थे। उन्हें देखकर ऐसा लगता था— यदि किसी को तनाव देखना हो तो इस अधिकारी का चेहरा देखो। तनाव की परिभाषा करने की जरूरत नहीं

होगी। यह क्रोध की समस्या बहुत व्यापक है। मैं मानता हूं, यह एक जन्मजात-जन्मगत समस्या ही है।

तोड़ता है अहंकार

जैसे पारिवारिक विघटन में क्रोध का आवेश एक मुख्य कारक तत्व बनता है वैसे ही अहंकार की भी पारिवारिक विघटन में कम भूमिका नहीं है। एक व्यक्ति का अहंकार समूचे परिवार की स्थिति को गड़बड़ा देता है। अहंकारी व्यक्ति दूसरों की बात को सुनता भी नहीं है, मानता भी नहीं है। वह अपनी अहंकार की वृत्ति को ही पोषित करता रहता है। उसके अपने मन में जो जंचता है, वह वही करता है। अहंकार में व्यक्ति दूसरे लोगों से यहां तक कहते सुने जाते हैं कि तुमने जितना अनाज खाया है, मैंने उतना नमक खा लिया है। मुझे क्या समझ रहा है? यह अहंकार का आवेश बड़ा भयंकर आवेश होता है। अहंकारी मनुष्य में पुरुषार्थ कम होता है, अकर्मण्यता ज्यादा होती है, निठल्लापन ज्यादा होता है। जब अहंकार जागता है, आदमी का पुरुषार्थ सो जाता है। क्रोध और अहंकार— ये दोनों प्रकार के आवेश व्यक्ति को बहुत गिराते हैं। आवेश कभी जोड़ता नहीं, तोड़ता है। अहंकारी आदमी अपने आपको ही श्रेष्ठ मानकर चलता है। वह कैसे जोड़ेगा? जहां मैं श्रेष्ठ हूं और दूसरे अपकृष्ट हैं, हीन हैं, वहां दूसरे लोग कैसे जुड़ेंगे?

अकड़ : पकड़

ये आवेश पारिवारिक और सामुदायिक जीवन जीने में बहुत बड़ी बाधा उत्पन्न करते हैं। सामुदायिक और अच्छा पारिवारिक जीवन वही व्यक्ति जी सकता है, जिसमें विनम्रता होती है, अहंकार का आवेश नहीं होता। जो व्यक्ति बड़ा होकर भी विनम्र होता है, उसी का जीवन शांतिमय होता है। राजस्थान अकड़न के लिए प्रसिद्ध रहा है। मारवाड़ भी अकडन के लिए प्रसिद्ध रहा है। अकड़ और पकड़ — दोनों यहा के लोगों के स्वभाव का अंग रहे हैं। जिस बात को पकड़ लेते हैं, उसे छोड़ते नहीं। राजस्थानी का प्रसिद्ध दूहा है—

तुम आवो डग एक तो हम आएं अट्ठ।
तुम हमसे करड़े रहो तो हम हैं करड़े लट्ठ।।

लोभ का आवेश

तीसरा है लोभ का आवेश। सामुदायिक चेतना के न जागने में, पारिवारिक विघटन में लोभ का हाथ भी कम नहीं है। एक व्यक्ति के मन में लोभ जागता है, सब कुछ टूटना-बिखरना शुरु हो जाता है। लोभ के कारण आदमी सारी सफलताओं से भी वंचित रह जाता है। दूसरे का आगे

आना उसे पसंद नहीं आता। वह स्वयं ही सब कुछ पाना चाहता है। यह लोभ की वृत्ति अपना सेहरा सबसे ऊंचा रखना चाहती है। सामुदायिक चेतना के जागरण में यह लोभ का आवेश एक बहुत बड़ा विघ्न है। परिवार के विघटन में भी यह बहुत बड़ा कारण बनता है। पांच-दस आदमी एक साथ कार्य कर रहे हैं। काम ठीक चल रहा है, अच्छी कमाई है पर एक आदमी के मन में एक सनक आती है, लोभ जागता है और वह छिपे-छिपे अपना घर भरना शुरू कर देता है, बिखराव शुरू हो जाता है, लड़ाई झगड़े शुरू हो जाते हैं। कोई लाभ में नहीं रहता। यह लोभ लाभ को भी गंवा देता है। जहां लोभ बढ़ता है, वहां लाभ की हानि शुरू हो जाती है। स्वामी विवेकानन्द ने ठीक कहा था— अमेरिकन लोग कंपनी बनाकर काम करना जानते हैं। हिन्दुस्तानी लोग कंपनी बनाकर काम करना नहीं जानते। यही कारण है— हिन्दुस्तान के ऐसे बड़े बड़े परिवार, जो बड़े औद्योगिक परिवार कहलाते थे, उनमें लडाइयां होने लगी, विघटन और बिखराव शुरू हो गया। इसका कारण है— लोभ का आवेश, असीमित लोभ।

समाधान है अध्यात्म चेतना

जब तक हम तीन प्रकार के आवेश— क्रोध का आवेश, अहंकार का आवेश, लोभ का आवेश को कम करना नहीं जानते तब तक सामुदायिक जीवन की बात सोची नहीं जा सकती। क्रोध के सामने क्रोध करेंगे तो क्या क्रोध कम हो जाएगा? जब दूध में उफान आता है, चूल्हे में एक लकड़ी और डाल दें तो क्या उफान मिट जाएगा? इसी प्रकार अहंकार के सामने अगर अहंकार आएगा तो वह कभी शांत नहीं होगा, वह अधिक फुफकारने लग जाएगा। जैसे एक व्यक्ति लोभ करता है वैसे ही दूसरा भी लोभ करने लग जाए तो क्या लोभ शांत हो पाएगा? कभी संभव नहीं है। शांत होने का एकमात्र उपाय है आध्यात्मिक चेतना का विकास। जैसे-जैसे अध्यात्म चेतना जागेगी, आवेश शांत होते चले जाएंगे। एक ओर है आवेश की चेतना और दूसरी ओर है शांति की चेतना, उपशमन की चेतना। क्रोध का उपशमन, अहंकार का उपशमन और लोभ का उपशमन। उफनते दूध में पानी का छींटा दिया, उपशमन हो गया। यह पानी का छींटा है अध्यात्म की चेतना, धर्म की चेतना।

समस्या का कारण

कठिनाई यह है— आज न बच्चों में धर्म और अध्यात्म की चेतना जगाने का कोई प्रयत्न किया जाता है और न ही बड़े लोगों में उसके जागरण का प्रयत्न होता है। हम जानते भी नहीं हैं कि इन आवेशों का शमन कैसे किया जाए? हम शमन की पद्धति नहीं जानते। धर्म भी चलता

है तो मात्र रूढ़ि के रूप में चलता है। मंदिर-मस्जिद, स्थानक आदि बने हुए हैं, उनमें चले जाओ और रूढ़ क्रियाकाण्ड कर लो किंतु अपनी वृत्तियों को कैसे बदला जाए? कैसे इन आवेशों को कम किया जाए? इनका उपाय क्या है? यह बात न बताई जाती है और न ही इस बात को जानने का प्रयत्न किया जाता है। धर्म करते-करते एक व्यक्ति ५०-६० वर्ष का हो जाता है, जब उससे पूछा जाता है– भाई! क्या बदलाव आया? उसका उत्तर होता है—पहले युवक था तब गुस्सा कम आता था। अब बूढ़ा हो गया हूं, नियंत्रण की शक्ति भी नहीं रही है, ज्यादा गुस्सा आता है। मैंने देखा है– बूढ़े आदमियों में लालच-लोभ की वृत्ति भी बहुत होती है। वे सोचते हैं– जितना बटोर सकें, बटोर लें फिर तो मरना ही है। जैसे-जैसे नाड़ी-तन्त्र शिथिल होता है, नियंत्रण की क्षमता कम होती चली जाती है, आवेश और ज्यादा बढ़ते चले जाते हैं।

समाधान है दीर्घश्वास का प्रयोग

हम इन्हें कम करने की राह खोजें। यदि हमारे पास चाबियां हैं तो हम ताला खोल सकते हैं। दीर्घश्वास का प्रयोग एक समाधान है। हम लम्बा श्वास लें, आवेश शांत होगा। दीर्घश्वास के प्रयोग से ये आवेश– क्रोध, अहंकार और लोभ शांत होंगे। क्रोध तभी आता है जब आदमी छोटा श्वास लेता है या जब क्रोध आता है तो वह श्वास को छोटा बना देता है। श्वास की संख्या, जो साधारण स्थिति में १५/१६ होनी चाहिए, क्रोध के हालात में बढ़ती चली जाती है, वह संख्या एक सेकण्ड में ३०/५० तक चली जाती है। आवेश आता है, श्वास की संख्या बढ़ जाती है। आवेश शांत होता है, श्वास की संख्या घट जाती है। जब हम लंबे श्वास लेंगे, हमारी चेतना श्वास के साथ जुड़ जाएगी। इसका अर्थ है—चेतना क्रोध के साथ नहीं जुड़ेगी, क्रोध का उपशमन हो जाएगा। चेतना अहंकार के साथ नहीं जुड़ेगी, अहंकार का उपशमन हो जाएगा, चेतना लोभ के साथ नहीं जुड़ेगी, लोभ का उपशमन हो जाएगा। जब-जब हमारी चेतना इन आवेशों के साथ जुड़ती है तब हमारी चेतना स्वयं क्रोध बन जाती है, अहंकार बन जाती है, लोभ बन जाती है।

विश्लेषण करें

एक उपाय है– विश्लेषण। संश्लेषण नहीं, विश्लेषण करें। क्रोध और चेतना को अलग-अलग कर दें। मिट्टी को अलग कर दें, सोने को अलग कर दें। छाछ को अलग कर दें, मक्खन को अलग कर दें। यदि हम यह विश्लेषण निरन्तर करते रहें तो आवेश शांत हो सकते हैं। इस प्रक्रिया में दीर्घश्वास का वही काम है जो काम बिलौना करने का है। यदि छाछ को अलग करना है और नवनीत को अलग करना है तो बिलौने की प्रक्रिया

अपनानी होगी। जैसे-जैसे मथाना (क्षेरणा) चलेगा, मक्खन ऊपर आता चला जाएगा, छाछ नीचे बैठती चली जाएगी। यही काम दीर्घश्वास की प्रक्रिया का है। जैसे-जैसे दीर्घश्वास का प्रयोग चलेगा, आवेश नीचे बैठते चले जाएंगे, चेतना ऊपर आती चली जाएगी। दीर्घश्वास का प्रयोग छोटा सा प्रयोग लग सकता है। किंतु यह चेतना के रूपान्तरण का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है, चेतना के परिष्कार का एक शक्तिशाली प्रयोग है। जो व्यक्ति दीर्घश्वास को अपना आलंबन बना लेता है वह शायद अनेक समस्याओं का पार पा जाता है।

महत्त्वपूर्ण है मन की शांति

कठिनाई यह है कि लोग श्वास लेना ही नहीं जानते। श्वास लेना सिखाया ही नहीं जाता। इस स्थिति में शांतिपूर्ण सहवास कैसे संभव है? इसके लिए जरूरी है प्रारम्भ से ही बालकों को प्रशिक्षित करने का अभियान चले। हम इस सचाई को समझें। जैसे-जैसे यह सचाई जीवन में आएगी वैसे-वैसे जीवन का मार्ग सरल और निर्मल बनता चला जाएगा, शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की बात अपने आप फलित होगी। हमारे जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण बात है मन की शांति। शांति नहीं होती है तो पूरा जीवन रूखा-सूखा और विफल सा लगता है। हम जीवन को सिर्फ पैसे के साथ ही न जोड़ें। यदि शांति का ध्येय सामने रहा तो शांतिपूर्ण सहवास होगा, पारिवारिक जीवन सुखद होगा, आनन्दमय होगा और परिवार में कैसे रहना चाहिए, समाज में कैसे जीना चाहिए, इसकी कला अपने आप हाथ में आ जाएगी। समयसार में अध्यात्म चेतना के जो महत्त्वपूर्ण सूत्र उपलब्ध हैं, वे आत्मिक शांति के साथ-साथ पारिवारिक शांति के लिए भी महत्त्वपूर्ण हैं। उनका उपयोग करने वाला शांतिपूर्ण सहवास का मंत्र उपलब्ध कर लेता है। □

संकलिका 10

- तम्हा ण कोवि जीवो वघादओ अत्थि अम्हउवदेसे।
  जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं, घादेदि इदि भणिदं।।
- एवं संखुवएसं जे दु परूवेंति एरिस समणा।
  तेसिं पयडी कुव्वदि अप्पा य अकारगा सव्वे।।
- अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणदि।
  एसो मिच्छसहावो, तुम्ह एयं मुणंतस्स।।
- जं भावं सुहमसुह करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
  तं तस्स होदि कम्मं, सो तस्स दु वेदगो अप्पा।।
- उवओगस्स अण्णाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स।
  मिच्छत्त अण्णाण अविरदि भावो य णादव्वो।।
- एदेसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरजणो भावो।
  जं सो करेहि भाव उवओगो तस्स सो कत्ता।।

(समयसार– ३३९ – ३४१, १०२, ८९)

- बाधा है आग्रह चेतना
- मिथ्या दृष्टिकोण. दो प्रकार
- जरूरी है वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास
- रूढ़िवाद का कारण
- सामंजस्य का सूत्र : अनाग्रह

सामंजस्य कैसे बढ़ाएं

पारिवारिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है सामंजस्य। सामंजस्य के बिना साथ में रहा भी नहीं जा सकता और साथ में रहने का कोई विशेष अर्थ भी नहीं रह जाता। सामंजस्य नहीं होता है तो नया चूल्हा भी जलाना पड़ता है, घर में दीवारें भी खींचनी पड़ जाती हैं। यह सब परस्परता के अभाव में होता है।

सामंजस्य : बाधा

सामंजस्य का बहुत बड़ा विघ्न है—आग्रह चेतना। व्यक्ति जिस बात को पकड़ लेता है, उसे छोड़ना नहीं चाहता। नासमझी और आग्रह—दोनों साथ-साथ चलते हैं। आग्रह का मतलब है बचकानापन। एक बालक में जिद्द ज्यादा होती है। बालहठ और त्रियाहठ प्रसिद्ध हैं। बालक को यह पता नहीं होता—इस बात में लाभ होगा या हानि। किन्तु वह जिस बात को पकड़ लेता है, उसे दृढ़ता से पकड़ लेता है, छोड़ता नहीं। यह आग्रह की वृत्ति सामंजस्य में बहुत बाधा डालती है। एक परिवार में दस-बीस लोग साथ रहते हैं। उनमें कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जिनमें पकड़ मजबूत होती है। वे अपनी बात की पकड़ को छोड़ना नहीं चाहते। इस आग्रही मनोवृत्ति से सामंजस्य में बाधा पैदा हो जाती है।

बाधा है मिथ्या दृष्टिकोण

साधना के क्षेत्र में सबसे पहली बाधा है—मिथ्या दृष्टिकोण। उसके दो प्रकार होते हैं—आभिग्रहिक और अनाभिग्रहिक। एक व्यक्ति यह जानता है कि यह बात सही नहीं है पर वह आग्रहपूर्वक उस बात को पकड़ लेता है, उसे छोड़ता नहीं है। यह आभिग्रहिकी मनोवृत्ति है। एक पकड़ होती है अज्ञान के कारण। एक व्यक्ति यह नहीं जानता कि ऐसा करना अच्छा नहीं है इसलिए वह करता चला जाता है। यह अज्ञानजनित आग्रह है, अनाभिग्रहिकी मनोवृत्ति हैं। बहुत लोगों को यह पता नहीं होता— चीनी खाने से क्या नुकसान होता है इसलिए वे चीनी खाते चले जाते हैं। ऐसे लोग भी हैं, जिन्हें चीनी खाने के परिणामों का ज्ञान है फिर भी वे चीनी

खाते चले जा रहे हैं। वे जानते हैं—चीनी खाने से अम्लता बढ़ेगी, और भी अनेक हानियां होंगी फिर भी वे चीनी छोड़ना नहीं चाहते। यह है आग्रह-चेतना। सब लोग जानते हैं—जर्दा या तंबाकू खाना स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद नहीं है, शरीर और मन के लिए नुकसानदेह है फिर भी अनेक व्यक्ति जर्दा और तंबाकू का व्यसन पाले हुए हैं।

आग्रह और समझ

यह आग्रह-चेतना बहुत भयंकर होती है। व्यक्ति इसमें उलझ जाता है। यह तथ्य है—सबमें समझ समान नहीं होती। सबका ज्ञान समान नहीं होता। सबमें चिन्तनधारा समान विकसित नहीं होती। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जिनका मस्तिष्क अविकसित होता है, अत्यन्त स्वल्प विकसित होता है। ऐसी स्थिति में जिद्द का होना, जिद्दी स्वभाव का होना स्वाभाविक है। यह प्रायः देखा गया है—जो व्यक्ति जितना ज्यादा नासमझ है, जितना ज्यादा चिंतन-शून्य है, जितना ज्यादा अज्ञानी है उसमें उतना ही ज्यादा आग्रह होता है, पकड़ और जिद्द होती है। जैसे-जैसे आदमी समझदार होता है, उसमें बुद्धि और चिन्तन का विकास होता है, समझने की क्षमता बढ़ती है वैसे-वैसे आग्रह की वृत्ति छूटती चली जाती है, अनाग्रह का भाव विकसित होता चला जाता है।

अनाग्रह : वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास

सत्य की खोज का सबसे बड़ा साधन है—अनाग्रह। जिसमें अनाग्रह की वृत्ति नहीं होती, वह सत्य की खोज में कभी आगे नहीं बढ़ सकता। एक वैज्ञानिक कभी भी किसी एक बात को पकड़कर या मानकर नहीं बैठ जाता। वह एक बार उस बात को आधार अवश्य बनाता है, उसके बाद अनुसंधान करता है, परीक्षण करता है और उसका जो निष्कर्ष आता है, उसे बिना किसी संकोच के स्वीकार कर लेता है।

एक वैज्ञानिक कभी यह नहीं कहता—मेरी यह मान्यता है, मैं इसे कभी नहीं छोड़ूंगा। उसमें अपनी बात की पकड़ नहीं होती, आग्रह नहीं होता। इसका कारण है वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास। आज धार्मिक व्यक्ति में भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास की बहुत जरूरत है। धार्मिक कहलाने वाले लोग भी ऐसे हैं, जो एक बात को पकड़ लेते हैं तो पकड़ ही लेते हैं, उसे छोड़ना नहीं चाहते। वे नई बात को स्वीकार करने के लिए तैयार ही नहीं होते।

आग्रह की समस्या

सत्य कितना अनन्त और कितना विराट् होता है! जैन-दर्शन की दृष्टि से विचार करें तो एक परमाणु के अनन्त पर्याय होते हैं। वर्णमाला का प्रथम अक्षर है 'अ'। यदि पूछा जाए—'अ' के कितने पर्याय होते हैं? जैन दर्शन के अनुसार इसका उत्तर होगा— एक 'अ' के अनन्त पर्याय होते हैं, अनन्त अवस्थाएं होती हैं। हम कितने पर्यायों को जानते हैं? हम दो-चार या दस-बीस पर्यायों को जान लेते हैं और सूंठ के गांठिए को रखकर ही पंसारी बनने का आग्रह पाल लेते हैं। हम थोड़ी सी बातों को जानकर धर्म के दावेदार या ठेकेदार बन जाते हैं। यह मान लेते हैं—यही सचाई है, अन्य सब झूठ है। हमारा यह अज्ञान और आग्रह सबसे बड़ा विघटनकारी तत्व है। सामाजिक बिखराव का भी यह बहुत बड़ा कारण है। परिवार और समाज में आग्रह बहुत चलता है। जो बात पकड़ ली जाती है, उसके सन्दर्भ में लोग दूसरी बात सुनने को तैयार ही नहीं होते। यह आग्रह की समस्या है।

अर्थहीन रूढ़िवाद क्यों?

इस वैज्ञानिक युग में भी अनेक रूढ़ियां चल रही हैं। इन सारी रूढ़ियों के चलने का कारण क्या है? रूढ़ि का अपना एक अर्थ होता है, अपने समय की एक उपयोगिता होती है। किन्तु देश-काल के परिवर्तित हो जाने पर भी उस लीक को पीटते रहना कहां तक संगत हो सकता है? जिस परम्परा या प्रणाली की उपयोगिता समाप्त हो गई, क्या उससे चिपके रहना उचित है? अर्थहीन परंपराओं से चिपके रहने का अर्थ है रूढ़ि। इस अर्थहीन रूढ़िवाद से काफी समस्याएं पैदा हो जाती हैं। व्यक्ति रूढ़ियों से इतना जकड़ा हुआ है कि उसका चिंतन सुलझा हुआ नहीं रहता। वह यह नहीं सोच पाता—देश काल के बदल जाने पर परंपरा को भी बदल देना चाहिए। इसका कारण है आग्रह। आज बहुत सारी ऐसी स्थितियां हमारे सामने हैं। यह मृत्युभोज की परंपरा, दहेज का प्रचलन कभी रहा होगा, किसी समय इसकी उपयोगिता को माना गया होगा पर आज इन्हें मात्र रूढ़ि ही माना जाता है। लेकिन पकड़ इतनी है कि समाज के मुखिया लोग भी इसे बदलना नहीं चाहते, छोड़ना नहीं चाहते।

संदर्भ आत्मा का

धर्म के क्षेत्र में भी बहुत सारे आग्रह पल रहे हैं। एक विचार को पकड़

देते हैं तो उसे बदलना ही नहीं चाहते। हम आत्मा का संदर्भ लें। प्रत्येक आस्तिक आदमी आत्मा को स्वीकार करता है पर उसके बारे में हमारी धारणाएं समान नहीं हैं। एक दर्शन कहता है—आत्मा सुख दुःख की कर्त्ता है। एक दर्शन का अभिमत है—आत्मा बिल्कुल निर्लिप्त है, शुद्ध, बुद्ध और अकर्त्ता है। समयसार में ऐसे अनेक मत प्रस्तुत किए गए हैं, जिनसे यह पता चलता है कि आत्मा के संदर्भ में अनेक प्रकार के विचार एवं दृष्टिकोण रहे हैं। इस आग्रह-चेतना की ओर इशारा करने वाली कुछेक गाथाएं हैं—

तम्हा ण को वि जीवो वघादओ अत्थि अम्ह उवदेसे।
जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं घादेदि इदि भणिदं।।
एवं संखुवएसं जे दु परूवेंति एरिसं समणा।
तेसिं पयडी कुव्वदि, अप्पा य अकारगा सव्वे।।
अहवा मण्णसि मज्झं, अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणदि।
एसो मिच्छसहावो, तुम्हं एयं मुणंतस्स।।

कोई भी जीव उपघातक नहीं है, क्योंकि कर्म ही कर्म को मारता है। इस प्रकार सांख्य मत का उपदेश जो श्रमण प्ररूपित करते हैं, उनके मत में प्रकृति ही कर्त्ता है, आत्मा अकर्त्ता है।

यदि यह मानते हो—मेरी आत्मा अपनी आत्मा की कर्त्ता है तो ऐसा जानने वाले व्यक्ति का यह मिथ्या स्वभाव है।

सामंजस्य का सूत्र

एक ओर आत्मा को अकर्त्ता माना जा रहा है तो दूसरी ओर उसे सुख दुःख का कर्त्ता माना जा रहा है। अपनी- अपनी पकड़ और अपना-अपना मत-आग्रह। अगर सामंजस्य बिठाना है तो आग्रह को छोड़ना होगा।

आत्मा कर्त्ता भी है, अकर्त्ता भी है।
वह अपने भावों की कर्त्ता है, पर भाव की कर्त्ता नहीं है।

जं भाव सहुमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं, सो तस्स दु वेदगो अप्पा।।

आत्मा कर्त्ता है, यह इस दृष्टि से सही है कि आत्मा अपने शुभ-अशुभ भाव की कर्त्ता है। आत्मा अकर्त्ता है, यह भी सही है क्योंकि वह पर-भाव की कर्त्ता नहीं है, वह किसी बाहरी वस्तु का

निर्माण नहीं करता। यदि इस प्रकार कर्त्ता और अकर्त्ता—दोनों का सामंजस्य बिठा लें तो समस्या सुलझ जाए, आग्रह की बात समाप्त हो जाए।

आत्मा : शुद्ध या अशुद्ध

एक प्रश्न है—आत्मा शुद्ध है या अशुद्ध? बद्ध है या मुक्त? इस प्रश्न के संदर्भ में एक प्रकार का दृष्टिकोण नहीं है। कुछ मानते हैं—आत्मा शुद्ध, बुद्ध और निर्लिप्त है और कुछ मानते हैं—आत्मा शुद्ध नहीं है, बंधी हुई है। हम सामंजस्य का सूत्र खोजें।

आत्मा शुद्ध, बुद्ध और निर्लिप्त है, सुख दुःख के बंधन से मुक्त है लेकिन वह तब है जब आत्मा परमात्मा बन जाए। आत्मा अपने स्वरूप की दृष्टि से शुद्ध हो सकती है किन्तु अभी शुद्ध नहीं है, बंधन से बंधा हुआ है। कर्म का बंधन, मोह का बंधन, मिथ्यात्व का बंधन—इन बंधनों से बंधी आत्मा शुद्ध नहीं है—

अण्णाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स।
मिच्छत्तं अन्नाणं अविरदिभावो य णादव्वो।।
एदेसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो।
जं सो करेहि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता।।

गंगा का पानी निर्मल और पवित्र है किन्तु उसमें फैक्ट्रियों का गंदा कचरा मिल गया। क्या वह पानी निर्मल होगा? जब तक उस पानी को रिफाइन नहीं करेंगे तब तक वह पानी निर्मल नहीं हो पाएगा। हम यह मान लें—हमारी आत्मा स्वरूपतः शुद्ध है किन्तु वह वर्तमान में शुद्ध नहीं है। उसमें मोह और अज्ञान का गंदा पानी मिला हुआ है।

अनाग्रह चेतना

सामंजस्य का सूत्र है अनाग्रह। पकड़ न हो तो सामंजस्य संभव बन सकता है। हम इस भाषा में सोचें—निश्चय नय की दृष्टि में आत्मा निर्मल है, शुद्ध है किन्तु व्यवहार नय की दृष्टि से आत्मा निर्मल नहीं है। यदि आत्मा निर्मल हो तो व्यक्ति का सारा निर्णय ही दूसरा होगा। विकृत दृष्टि, विकृत चिन्तन और विकृत निर्णय पवित्र आत्मा से नहीं आता, वह अपवित्र आत्मा से ही आता है। जहां अपवित्रता या मलिनता होती है वहां निर्णय ही दूसरा होता है। जहां लोभ आता है, क्रोध आता है, वहां चेतना मलिन बन जाती है। जहां चेतना मलिन बनेगी, वहां निर्णय और

निष्कर्ष बदल जाएंगे। समस्या यह है —क्रोध-चेतना, लोभ-चेतना आदि-आदि चेतनाएं जागती रहती हैं, आत्मा का चिन्तन, निर्णय, निष्कर्ष-सब कुछ गलत और विकृत होते चले जाते हैं। हम इस बात को एकांगी दृष्टिकोण से स्वीकार न करें—आत्मा शुद्ध ही है या आत्मा अशुद्ध ही है। एकांगी-आग्रह को छोड़कर ही सामंजस्य बिठाया जा सकता है। यह अनाग्रह की चेतना है, सामंजस्य की चेतना है—स्वरूप की दृष्टि से आत्मा शुद्ध है किन्तु उसे वर्तमान अवस्था की दृष्टि से शुद्ध नहीं माना जा सकता।

जीवन व्यवहार : सामंजस्य

हम अपने जीवन व्यवहार में सामंजस्य की बात को महत्त्व नहीं देंगे तो शांतिपूर्ण सहवास की बात संभव नहीं बन पाएगी। यदि साथ में रहना है, सह-चिन्तन, सह-चित्त, सह-वास या सह-अस्तित्व चाहते हैं तो सामंजस्य का सूत्र अपनाना ही होगा। आग्रह को त्यागे बिना सामंजस्य संभव नहीं है। आग्रह-चेतना सामंजस्य में बहुत बड़ी बाधा है। हम अपने ज्ञान, चिन्तन और समझ की शक्ति को बढ़ाएं, दूसरे की बात को समझने का प्रयत्न करें और यह मानकर चलें—सत्य अनंत है, जितना मैंने जाना है, वह उतना ही नहीं है। हम उसकी व्यापकता को स्वीकार करें, उसकी सीमा बांधने का प्रयास न करें।

आग्रह चेतना निर्मल बने

सत्य सीमातीत है, उसे सीमित करने का प्रयत्न आग्रह को जन्म देगा। इस सिद्धांत को समझकर पकड़ की रस्सी को थोड़ा ढीला करें। ऐसा तो नहीं माना जा सकता कि आग्रह की गांठ एक साथ खुल जाएगी किन्तु इससे आग्रह-चेतना कुछ निर्बल बन जाएगी, आग्रह की गांठ धीरे-धीरे खुलने लगेगी। जहां आग्रह नहीं है, वहां समस्या नहीं है। जहां आग्रह से मुक्ति है, वहां समस्या का समाधान है। हम आग्रह को छोड़ें, जीवन में अनाग्रह वृत्ति का विकास करें तो सामंजस्य का सूत्र उपलब्ध हो जाए। आचार्य कुन्दकुन्द ने अध्यात्म के क्षेत्र में सामंजस्य का जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, वह जीवन-व्यवहार के संदर्भ में भी बहुत मूल्यवान् है। □

संकलिका 11

- सुदपरिचिदाणुभूदा, सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स।।
(समयसार - ४)

- समस्या के हेतु–
  रुचि भेद
  विचार भेद
  चिन्तन भेद
- जरूरी है नियत्रण और परिष्कार
- दूसरे को सहना सीखें
- जीवित समाज का लक्षण :
विचार भेद के प्रति सहिष्णु होना
- मुर्दा समाज का लक्षण :
विचारों को रौंदना कुचलना या दबाना
- जीवन निर्माण और जीविका
- विकास का लक्षण
- सहिष्णुता का विकास : कार्य सिद्धि
- जीवन-निर्माण का सूत्र : ध्यान

परिष्कार करें : लड़ें नहीं

मनुष्य कोई ईंट नहीं है, कोई कापी या पेन नहीं है, जिसे एक सांचे में ढालकर हजारों एक जैसे बनाए जा सकें। जड़ वस्तु का निर्माण यन्त्र द्वारा होता है। मनुष्य चेतनावान् प्राणी है। उसका निर्माण यंत्र द्वारा नही किया जा सकता। जहां चेतना है, वहां चिन्तन है, स्मृति और कल्पना है, कुछ नया करने की भावना है। जहां ये सब होते हैं, वहां एकरूपता का होना कठिन ही नहीं, असंभव है। सामूहिक जीवन के लिए यह एक बड़ी समस्या है।

प्रश्न है रुचि का

सबसे पहली समस्या है रुचि का भेद। एक परिवार में दस आदमी एक साथ रहते हैं, उन सबकी अपनी-अपनी रुचि होनी है। सब लोगों की रुचि एक समान नहीं होती। एक व्यक्ति कुछ चाहता है, दूसरा व्यक्ति कुछ और चाहता है। इसका कारण रुचि-भेद का होना है। मनुष्य के भीतर एक रुचि होती है, एक प्रीति और आकर्षण होता है। बहुत महत्त्वपूर्ण है रुचि का प्रश्न। अधिकांश व्यक्तियों की रुचि का सम्बन्ध एक दिशा से ही जुड़ा हुआ है। इस संसार मे जीने वाले व्यक्ति की रुचि काम-भोग में अधिक है। उसकी सारी रुचियों का केन्द्र-बिन्दु यही है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इस सचाई को संकेतित करते हुए कहा— काम-भोग से संबंधित बंध की कथा से सब लोग परिचित हैं, उसके प्रति प्रत्येक व्यक्ति की रुचि है लेकिन काम-भोग की कथा से परे जाने की कथा करने वाले विरल हैं। बहुत कम लोग ऐसे हैं, जो काम-भोग से परे की चेतना में जीने की बात करते हैं—

सुदपरिचिदाणुभूदा, सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स।।

रुचि भेद की समस्या

हम पारिवारिक जीवन को देखें। उसमें जितने रुचि-भेद सामने आते हैं, उनकी पृष्ठभूमि में काम या वासना का भाव प्रबल होता है। रुचि-भेद को लेकर पारिवारिक जीवन में बहुत बार झगड़े हो जाते हैं। एक प्रश्न है

भोजन का। सबकी भोजन की रुचि भी एक प्रकार की नहीं होती। कोई मिठाई खाना पसन्द करता है, कोई नमकीन खाना पसन्द करता है और किसी की रुचि होती है खट्टे पदार्थ खाने की। यह रुचि-भेद बड़ा विचित्र होता है। एक व्यक्ति की रुचि है खूब गहने-आभूषण पहनने की, प्रदर्शन करने की। वह अपने आपको दिखाना चाहता है। बहुत बार यह प्रदर्शन की रुचि विकट समस्या पैदा कर देती है। आज सामाजिक जीवन में जो कुछ रूढ़िया चल रही हैं, उनकी पृष्ठभूमि में प्रदर्शन की रुचि है। आदमी के पास सब कुछ नहीं है फिर भी वह अपने आपको बहुत कुछ दिखाना चाहता है। तर्कशास्त्र का एक न्याय है— याचितमंडनकम्। एक व्यक्ति के पास गहना नहीं है। वह दूसरे से मांगकर पहनेगा और यह दिखाने की कोशिश करेगा— मेरे पास इतना रहना है।

समाधान-सूत्र

यह रुचि-भेद की स्थिति है। जो इस स्थिति में सामंजस्य करना नहीं जानता, वह सामूहिक जीवन में कलह, लडाई और झगड़े से बच नहीं पाता। बहुत बड़ी कला है रुचि का परिष्कार करना। आज टी.वी. के प्रति अत्यन्त रुचि बढ़ती जा रही है। आजकल के बच्चों का टी.वी. के प्रति जितना आकर्षण है उतना किसी दूसरे के प्रति नहीं है। अगर इस समस्या पर ध्यान नहीं दिया गया तो एक ऐसी पीढ़ी का निर्माण हो जाएगा, जिसमें दायित्व की भावना नहीं होगी, कर्तव्य-चेतना नहीं होगी, समयोचित बोध नहीं रह पाएगा। यह भी एक तथ्य है— बच्चों को जबरदस्ती रोकना भी मुश्किल है। इसका समाधान यही है कि हम बच्चों की रुचि का परिष्कार करें।

जरूरी है परिष्कार

आज ब्रिटेन, जर्मनी, अमेरिका आदि समृद्ध देशों में टी.वी. के विरुद्ध आन्दोलन चल रहा है। कहा जा रहा है— ब्रिटेन में इन दो वर्षों के दौरान इतने ऐनक बिके, जितने पिछले कई वर्षों में नहीं बिके। बच्चों की आंखों के कमजोर होने का प्रतिशत बढ़ा और एक आन्दोलन शुरू हो गया। कहा गया— इसे बन्द करो। इससे आंखें खराब होती हैं। इसके साथ ही इससे जो किरणें निकलती हैं, वे आस-पास फैल जाती हैं। उनका स्वास्थ्य पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है।

रुचि का नियन्त्रण और परिष्कार होना जरूरी है। जहा सामाजिक एवं पारिवारिक सहवास का प्रश्न है वहां रुचि को लड़कर नहीं बदला जा सकता। उसके लिए ऐसा उपाय खोजना चाहिए, जिससे रुचि का परिष्कार भी हो जाए और लडाई का प्रश्न भी न आए।

विचार-भेद की समस्या

दूसरी समस्या है विचार-भेद की। सबके विचार एक समान नहीं होते। जैसे रुचि-भेद सहवास की एक समस्या है वैसे ही विचार-भेद भी सहवास की एक बड़ी समस्या है। सबके सोचने का तरीका अलग अलग होता है। व्यक्ति सोचता है— जिनके साथ विचार नहीं मिलते, उनके साथ कैसे रहें? इसके समाधान के लिए प्रशिक्षण जरूरी है। हम इस सचाई को समझें— विचार भेद और विरोध होना एक बात नहीं है। थोड़ा सा विचार-भेद होता है, व्यक्ति यह मान लेता है— अमुक व्यक्ति मेरा दुश्मन है। वस्तुतः यह मानने की जरूरत नहीं है। विचार-भेद शत्रुता का नहीं किन्तु स्वतन्त्रता का लक्षण है।

चिन्तन-भेद : समाज-विकास का घटक तत्व

विचार की भिन्नता मनुष्य की स्वतन्त्रता का सबसे बड़ा लक्षण है। अगर सब लोग एक ही तरह से सोचते तो मानव समाज बहुत बौना हो जाता। विभिन्न ढंग से सोचना ही समाज-विकास का साधन है। चिन्तन का भेद समाज-विकास का मुख्य घटक रहा है। सब एक ही ढंग से सोचते तो यह नानात्व नहीं होता। जहां नानात्व नहीं होता, अनेकता नहीं होती, वहां सौन्दर्य नहीं होता। सामाजिक सौन्दर्य की अभिवृद्धि में यह विचार-भेद बहुत काम करता है। **सत्यं शिवं सुन्दरम्** की बात बहुत कही जाती है। केवल सत्य होना ही पर्याप्त नहीं है, कल्याणकारी भी होना चाहिए। ऐसा होता है तभी सौंदर्य प्रकट होता है।

जीवित समाज का लक्षण

जहां एक ओर विचार-भेद से सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है वहीं दूसरी ओर विचार-भेद से लड़ाइयां भी कम नहीं होतीं। व्यक्ति अपने से भिन्न विचार रखने वाले व्यक्ति को सह नहीं पाता। इस शताब्दी में कुछ ऐसे अधिनायक हुए हैं, तानाशाह हुए हैं, जिन्होंने अपने से भिन्न विचार रखने वाले व्यक्ति को कभी सहन नहीं किया। जो व्यक्ति भिन्न विचार रखता, उसका जीवन ही समाप्त कर दिया जाता। पारिवारिक और सामाजिक जीवन की मुख्य समस्या है— विचार भेद को सहन न करना। वस्तुतः विचार में भेद होना स्वाभाविक है। वैचारिक स्वतन्त्रता का होना बहुत आवश्यक है। विचारों को रौंदना, दबाना या कुचलना— यह मुर्दा समाज का लक्षण है। विचार-भेद के प्रति सहिष्णु होना, जीवन्त समाज का लक्षण है, अध्यात्म चेतना का जागरण है। जब तक अध्यात्म-चेतना नहीं जागती, तब तक आदमी अपने से भिन्न विचार को सहन नहीं कर सकता। वह भिन्न विचार रखने वाले व्यक्ति को विरोधी मानकर शत्रु घोषित कर देता है। जिस व्यक्ति में थोड़ी सी भी नैतिक या आध्यात्मिक

चेतना जागृत है, वह विचार-भेद के कारण किसी को विरोधी नहीं मानेगा।

असहिष्णुता का युग

सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन का महत्त्वपूर्ण सूत्र है— सहिष्णुता। यदि सहिष्णुता है तो रुचि-भेद को सहा जाएगा, उसका परिष्कार किया जाएगा किन्तु उसके कारण शत्रुता का भाव पैदा नहीं होगा। यदि सहिष्णुता की चेतना जागृत है तो विचार भेद को भी सह लिया जाएगा। शान्त सहवास का सफल सूत्र है सहिष्णुता। वर्तमान युग की सबसे बड़ी समस्या है असहिष्णुता। आज के युग को एक शब्द में परिभाषित किया जाए तो यह है असहिष्णुता का युग। व्यक्ति सहना जानता ही नहीं है। क्या अतीत में कभी ऐसा हुआ है कि एक विद्यार्थी अध्यापक को पीटे? आचार्य या प्रिंसिपल का घेराव कर उसे कमरे में बन्द कर दे? क्या इतिहास में कहीं ऐसा प्रसंग आया है? अतीत में ऐसा कुछ नहीं होता था किन्तु वर्तमान में सब कुछ हो रहा है। उस समय ऐसे संस्कार थे— गुरु को सहन करोगे तो विद्या बढ़ेगी। यह धारणा थी— विद्या ददाति विनयम्। आज स्थिति यह है— यदि मन के प्रतिकूल पेपर भी आ जाता है तो विद्यार्थी शिक्षक की पिटाई कर देते हैं।

बदल गई है जीवन प्रणाली

युग कितना बदल गया! यदि हम इस बदले हुए युग में केवल लड़ने की ही बात करें तो समाज का भला नहीं होगा। हमें परिष्कार का सूत्र अपनाना होगा या कोई नया मार्ग खोजना होगा। हम यह नहीं कहते— आज का विद्यार्थी बहुत बुरा हो गया है लेकिन यह अवश्य कहा जा सकता है कि आज विद्यार्थी को प्रारम्भ से ही अच्छे संस्कार नहीं दिए जा रहे हैं। जीवन की सारी प्रणाली बदल गई है। ऐसा लगता है— विद्यार्थी को शुरू से ही उद्दंडता के संस्कार दिए जा रहे हैं। उन्हें बार-बार उद्दंडता और उच्छृंखलता के स्वर ही सुनाई देते हैं और जब प्रसंग आता है तब वे उन्हीं का उपयोग कर लेते हैं। यदि रुचि-परिष्कार की बात, मस्तिष्कीय प्रशिक्षण की बात प्रारम्भ से ही चले तो आदमी इतना असहिष्णु न बने, उसमें सहिष्णुता की चेतना जाग जाए।

प्रश्न है उद्देश्य का

सहिष्णुता का विकास सम्भव है किन्तु वह सम्भव बनता है प्रशिक्षण के द्वारा। सहिष्णुता के विकास का एक साधन है— कायसिद्धि। यदि हम आसन आदि के द्वारा शरीर को साधने का प्रशिक्षण लें तो असहिष्णुता की समस्या से बच सकते हैं। एक बच्चा असहिष्णु है, इसका कारण वह ही

नहीं है, उसके अभिभावक भी हैं। यदि बच्चे को प्रारम्भ से ही सहिष्णुता की शिक्षा दी जाए, शरीर को साधने का उपक्रम सिखाया जाए तो वह कभी असहिष्णु नहीं बन पाए। अभिभावक सोचते हैं— लड़के को अच्छी तरह पढ़ा दें ताकि वह अच्छी कमाई कर सके लेकिन वे यह नहीं सोचते— क्या पैसा कमाना ही जीवन का उद्देश्य है? वह वरदान नहीं, अभिशाप भी बन सकता है। जीवन का निर्माण नहीं किया, जीवन जीने की कला नहीं सिखाई तो मानना चाहिए— बन्दर के हाथ में तलवार थमा दी गई है। जो व्यक्ति अपने बच्चे के जीवन-निर्माण पर ध्यान नहीं देता और उसे जीविका की तलवार पकड़ा देता है तो कभी-कभी वह तलवार उसके गले पर भी चल जाती है।

जीवन-निर्माण का सूत्र

हम ध्यान दें जीवन-निर्माण पर। जीवन-निर्माण का सूत्र है ध्यान। ध्यान का प्रयोग जीविका के लिए नहीं है, जीवन-निर्माण के लिए है। जब जीवन का निर्माण होता है तब जीविका की बात भी पीछे नहीं रहती। ध्यान के द्वारा दक्षता बढ़ती है, शक्ति बढ़ती है, स्मृति बढती है, चातुर्य आता है किन्तु इन सबसे महत्त्वपूर्ण जो उपलब्धि ध्यान के द्वारा प्राप्त होती है, वह है जीवन-निर्माण। जीवन का निर्माण होता है तो शान्त सहवास की समस्याएं, आग्रह और रुचि-भेद की समस्याएं, विचार भेद और विरोधाभास की समस्याएं, निषेधात्मक भाव की समस्याएं समाहित हो जाती हैं। ध्यान से जागरण होता है विधायक विचार का, मैत्री भाव का, सबके प्रति सम्मान की भावना का और सामंजस्यपूर्ण चेतना का। जब चेतना की यह स्थिति बनती है तब पारिवारिक और सामाजिक जीवन बहुत सुखद बन जाता है। इन सबकी उपलब्धि के लिए जरूरी है— ध्यान का प्रशिक्षण। ध्यान आध्यात्मिक जीवन के लिए ही नहीं, पारिवारिक और सामाजिक जीवन के लिए भी अनिवार्य है। यह एक सचाई है। इस सचाई को समझने वाला प्रत्येक व्यक्ति परिष्कार के सूत्र खोजेगा, अपने जीवन-निर्माण पर ध्यान देगा। जो परिष्कार की बात सोचता है, वह अभय का मंत्र सीख लेता है। रुचि परिष्कार का सूत्र है— कामना का परिष्कार। काम-परिष्कार होने पर ही रुचि-परिष्कार का सूत्र हस्तगत हो सकता है, रुचि-भेद से उत्पन्न विग्रह को समाप्त किया जा सकता है।

□

संकलिका 12

- संजोगाविप्पमुक्कस्स अणगारस्स भिक्खुणो।
- जह णाम को वि पुरिसो, णेहब्भत्तो दु रेणुबहुलम्मि।
  ठाणम्मि ठाइ दूण य करेदि सत्थेहिं वायामं।।
- जो सो दु णेहभावो, तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो।
  णिच्छयदो विण्णेय ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं।।
- एवं मिच्छादिट्ठी, वट्टंतो बहुविहासु चिट्ठासु।
  रायादि उवओगे कुव्वतो लिप्पदि रएण।।

(समयसार - २३७, २४०, २४१)

- सामान्य व्यक्तित्व की तीन कसौटियां—
  आत्मिक आनंद
  मानसिक कार्यक्षमता
  संबंधों का सफल अभियोजन
- सामान्य व्यक्तित्व : आत्म विज्ञान की कसौटी—
  अतीत के बोझ से मुक्त होना
  अतीत के संग्रह से मुक्त होना
  निर्ग्रंथ होना
- सामान्य और असामान्य की परिभाषा
- धार्मिक की कसौटी : संवेदनशीलता
- मानवीय संबंध . ध्यान

ध्यान क्यों करें ?

एक सामाजिक प्राणी समूह में जीता है। समूह की सबसे छोटी इकाई है अपना परिवार। परिवार के साथ संबंध कैसे हैं? इसका सबसे पहले आत्म-निरीक्षण करें। हम यह भी आत्म-निरीक्षण करें--स्वयं के साथ हमारा संबंध कैसा है? यह बड़ा जटिल प्रश्न है। व्यक्ति अपने साथ भी अच्छा संबंध स्थापित नहीं कर पाता है इसीलिए वह खंडित व्यक्तित्व में जीता है। अखंड व्यक्तित्व में जीना सहज सरल नहीं है। धर्म, ध्यान और अध्यात्म की कसौटी है कि व्यक्ति परिवार के साथ कैसा संबंध स्थापित करता है? दर्शन को जानना, सिद्धान्त को समझना एक बात है, उसे जीना बिल्कुल दूसरी बात है। जब तक दर्शन और सिद्धांत को जिया नहीं जाता, वह केवल कल्पना बनकर ही रह जाता है, यथार्थ के धरातल पर उसका बहुत मूल्य नहीं होता। यदि यथार्थ का जीवन जीना है तो हमें संबंधों पर विचार करना होगा।

संबंध का जीवन

सामाजिक जीवन का मतलब है संबंधों का जीवन। मुनि जीवन का मतलब है संबंधातीत जीवन। जहां संयोग और संबंध को मान्यता प्राप्त है, वह है सामाजिक जीवन। जहां केवल अकेलेपन को मान्यता प्राप्त है वह है एक त्यागी, संन्यासी और मुनि का जीवन। इसीलिए कहा गया--

संजोगा विप्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो।

मुनि संयोगों से मुक्त होता है और गृहस्थ संयोगों का जीवन जीता है। व्यक्ति अकेला जन्म लेता है। माता-पिता का एक संयोग हुआ, एक संबंध हो गया। भाई-बहिन, चाचा-ताऊ--ये संबंध विकसित होते चले गए। व्यक्ति के बड़ा होने पर ससुराल पक्ष का एक संबंध और जुड़ता है। इस प्रकार वह संबंधों की अनगिनत श्रृंखलाओं से जुड़ता है

कैसे हैं संबंध?

संबंधों का जीवन कैसा जिया जा रहा है? यह एक बड़ा प्रश्न है। हर

व्यक्ति यह विश्लेषण कर सकता है कि मेरा अपने माता-पिता, भाई या पत्नी के साथ संबंध कैसा है? मधुर है या कटुतापूर्ण है? अन्य परिजनों के साथ संबंध कैसा है? निरीक्षण करने पर पता चलेगा—जैसा होना चाहिए, वैसा संबंध तो बहुत कम है। प्रारंभ में संबंध थोड़ा मधुर होता है, शनैः-शनैः संबंधों में कड़वाहट आती चली जाती है। जैसे-जैसे स्वार्थ वृत्ति का विस्तार होता है, संबंध कड़वे होते चले जाते हैं। एक समय ऐसा आता है, संबंध एक खतरा बन जाता है, मानसिक तनाव का कारण बन जाता है।

सामान्य व्यक्तित्व की कसौटी

अर्नेस्ट जोंस ने सामान्य व्यक्तित्व की तीन कसौटियां बतलाई हैं—

आत्मिक आनन्द।

मानसिक कार्यक्षमता।

सामाजिक संबंधों का सफल अभियोजन—सामाजिक संबंधों में ठीक प्रकार से सामंजस्य बिठा लेना।

जो ऐसा जीवन नहीं जीता, वह असामान्य (Abnormal) जीवन होता है। सामान्य व्यक्तित्व को इन तीन कसौटियों के आधार पर जाना जाता है।

आत्म-विज्ञान के संदर्भ में देखें तो सामान्य व्यक्तित्व की पहली कसौटी होगी—अतीत के बोझ से मुक्त होना। जो व्यक्ति अतीत के बोझ से ज्यादा लदा हुआ नहीं है, वह सामान्य व्यक्ति है। अपने किए कार्यों के बोझ की ऐसी भारी गठरी है कि आदमी उससे दबता चला जाता है, असामान्य बनता चला जाता है। जिसके सिर पर अतीत का बोझ कम होता है, वह सामान्य व्यक्ति होता है। हर व्यक्ति संस्कारों को लिए हुए है। एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो संस्कारातीत जीवन जी रहा हो। केवल वीतराग ही ऐसा व्यक्ति हो सकता है। वीतराग एक ऐसी ऊंचाई पर पहुंची हुई चेतना है, जहां पहुंचने पर सारे संस्कार समाप्त हो जाते हैं। इस अवस्था में अतीत का कोई संस्कार नहीं रहता और न वर्तमान में कोई नया संस्कार बनता है। जो बाहर से आता है, वह चला जाता है। हम इसे पारिभाषिक शब्दों में ईर्यापथिकी क्रिया कह सकते हैं। इसका अर्थ है—रेत आई और नीचे गिर गई, चिपक ही नहीं पाई। वह तब चिपकती है जब चिकनाहट होती है या मिट्टी गीली होती है तो वह चिपक जाती है।

बंध का कारण

आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा—एक व्यक्ति कायिक चेष्टा करता है। वह पहले शरीर पर पूरा तेल लगाता है फिर अखाड़े में जाकर व्यायाम करता है, धूल चिपक जाती है।

जह णाम को वि पुरिसो णेहब्भत्तो दु रेणुबहुलम्मि ।
ठाणम्मि ठाइदूण य करेदि सत्थेहिं वायामं ।।
जो सो दु णेहभावो तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो ।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ।।
एवं मिच्छादिट्ठी वट्टंतो बहुविहासु चिट्ठासु ।
रायादि उवओगे कुव्वंतो लिप्पदि रएण ।।

प्रश्न होगा—धूल क्यों चिपकी? स्पष्ट है—यदि तेल चुपड़ा हुआ नहीं होता, धूल नहीं चिपकती। धूल आती और झड़ जाती। आत्म विज्ञान के अनुसार हर व्यक्ति एक तेल लगाए हुए है और वह है राग और द्वेष का तेल। कषाय का ऐसा अभ्यंग किया हुआ है कि व्यक्ति काषायिक बना हुआ है और एक खुला निमन्त्रण दिया हुआ है—धूलि आओ और चिपक जाओ। जब इतना चिपकाव और इतना बोझ सिर पर होता है तब व्यक्ति सामान्य कैसे रह सकता है?

मनोविज्ञान की भाषा: आत्मविज्ञान की भाषा

मानेविज्ञान में सामान्य और असामान्य की एक परिभाषा निर्धारित है। आत्मविज्ञान की दृष्टि से विचार करें तो शायद किसी को सामान्य कहना कठिन है। जिसमें पूरा सम्यग् दर्शन जाग गया, वीतराग चेतना की काफी झलक आ गई, वह सामान्य व्यक्ति है। मनोविज्ञान का सामान्य व्यक्ति आत्मविज्ञान की भाषा में बिल्कुल असामान्य बन जाएगा। किसी ने एक भी अप्रिय बात कह दी, व्यक्ति झगड़ा करने को तैयार हो जाएगा । किसी ने प्रिय बात कह दी तो राग का उद्दीपन हो जाएगा। यदि पत्नी ने खाना बढ़िया बना दिया तो व्यक्ति उसे रस लेकर खाएगा और भूख से ज्यादा खाएगा। यह राग का उद्दीपन है। यदि रसोई रुचिकर नहीं बनी तो क्रोध का उद्दीपन हो जाएगा, व्यक्ति थाली को ठोकर मार देगा। ऐसा क्यों होता है? इसका कारण है—व्यक्ति सामान्य नहीं है। नमक ज्यादा होता है तो क्रोध आ जाता है और नमक कम होता है तो भी क्रोध आ जाता है । दोनों ओर क्रोध की संभावना बनी रहती है। हम व्यक्ति को सामान्य कैसे मानें? यह बहुत बड़ी समस्या है। जहां

कषाय का इतना उद्दीपन है वहां सामान्य की बात कैसे करें? संबंधों में सामंजस्य बिठाकर उन्हें मधुर रखना बहुत कठिन बात है। जब कषाय का चूल्हा निरन्तर जलता रहता है तब संबंधों की मधुरता कैसे बनी रह सकती है? हमारा व्यक्तित्व कैसे सामान्य बना रह सकता है? यह एक बड़ा प्रश्न है। यदि अतीत का बोझ कम हो तो कुछ अन्तर आ सकता है।

रूढ़ मान्यताएं क्यों?

सामान्य व्यक्तित्व की दूसरी कसौटी है—अतीत का संग्रह कम हो। हमने दिमाग को कितना भर रखा है! धारणाओं, मान्यताओं और कल्पनाओं का ढेर लगा हुआ है। समाज में कितनी रूढ़ मान्यताएं चल रही हैं। पति मर गया और पत्नी न रोए तो लोग क्या कहेंगे? समाज कहेगा—यह तो मारना ही चाहती थी। इसे कोई दु:ख ही नहीं है। समाज की इस मान्यता से प्रभावित होकर लोग रोते हैं। वह रोना दु:ख का रोना नहीं है। वह है धारणा का रोना, सामाजिक मान्यता का रोना। अगर न रोया जाए तो अच्छा नहीं लगेगा। हमने ऐसी अनेक सामाजिक रूढ़ियां बना रखी हैं।

प्रदर्शन की भावना क्यों?

प्रदर्शन की भावना क्यों चलती है? समाज में बड़प्पन के कुछ मानदंड बने हुए हैं। उन मानदंडों के अनुसार सब-कुछ होता है तो व्यक्ति बड़ा आदमी कहलाता है। ऐसा नहीं होता है तो आदमी साधारण कहलाता है। ये बड़प्पन के मानदण्ड और उसके आधार पर प्रदर्शन एवं सामाजिक कुचेतनाएं बराबर चल रही हैं। एक भाई ने अपने होने वाले समधी से कहा—मैं दहेज लेने के पक्ष में नहीं हूं पर यदि आपने कुछ नहीं दिया तो इसमें हल्की आपकी ही लगेगी। इसीलिए एक सामाजिक धारणा बनी हुई है, उसके साथ-साथ व्यक्ति के भीतर का लोभ भी बोल रहा है। यह अतीत का संग्रह, विचारों का संग्रह, धारणाओं का संग्रह इतना भारी बना हुआ है, आदमी नीचे दबता चला जा रहा है। इस स्थिति में हम कैसे मानें—हमारा व्यक्तित्व सामान्य है? अतीत के संग्रह को कम किए बिना सामान्य व्यक्तित्व की कल्पना सम्भव नहीं है।

निर्ग्रन्थता

सामान्य व्यक्तित्व की तीसरी कसौटी है—निर्ग्रंथ होना। यदि सामान्य व्यक्तित्व का निर्माण करना है तो निर्ग्रन्थ बनना ही होगा। जैनागमों में

महावीर के लिए एक विशेषण आता है—निग्गंथे णायपुत्ते—निर्ग्रन्थ महावीर। निर्ग्रन्थ का कन्सेप्ट बहुत महत्त्वपूर्ण है। जिस दिन व्यक्ति निर्ग्रन्थ बनने की दिशा में प्रस्थान करेगा, उसी दिन सामान्य जीवन जीने का, सामान्य व्यक्तित्व के विकास का क्रम शुरू होगा। जब तक गांठें ही गांठें भरी पड़ी हैं, सौन्दर्य कैसे आएगा? निर्ग्रन्थ का अर्थ है—न क्रोध की ग्रन्थि, न अहंकार की ग्रन्थि, न लोभ की ग्रन्थि। निर्ग्रन्थता का रहस्य है—मोह-मूर्च्छा से पैदा होने वाली जितनी ग्रन्थियां हैं, वे सारी खुल जाएं। जो व्यक्ति निग्रंथ जीवन जीना शुरू करता है, वह सामान्य बन सकता है।

ग्रन्थि और व्यवहार

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है—मानवीय सम्बन्धों में सुधार कैसे आए? घोर अपराध, हत्याएं, चोरियां, लूट-पाट और बलात्कार की घटनाएं वर्तमान समाज में चल रही हैं। यह सब क्यों हो रहा है? जितने प्रकार के अपराध हैं, उतनी ही प्रकार की ग्रन्थियां हैं। हम गणित की भाषा में कह सकते हैं—हमारे हजार व्यवहार हैं तो हमारे भीतर हजार ग्रन्थियां हैं। जब तक ये गांठें नहीं खुलती तब तक व्यक्ति सामान्य धरातल पर नहीं आ सकता। प्रत्येक विचार और आचरण के साथ भीतर में एक गांठ बन जाती है। हमारा कोई भी विचार ऐसा नहीं है, जो एक गांठ न छोड़ जाए। निर्ग्रन्थ होना सामान्य व्यक्तित्व की एक दिशा है।

सम्बन्धों का सफल अभियोजन

अतीत के बोझ को कम करना, अतीत के संग्रह को कम करना और गांठों को खोलना—इन तीन कसौटियों पर खरा उतरने वाला व्यक्तित्व सामान्य व्यक्तित्व बनता है। अगर अतीत का बोझ अधिक है तो आत्मिक आनंद के स्थान पर विषाद की प्राप्ति होगी, अवसाद (Depression) होगा, कलह होगा। मानसिक कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए मन को विराम देना होगा, अतीत के बोझ को कम करना होगा।

सामान्य व्यक्तित्व की तीसरी कसौटी है—संबंधों का सफल अभियोजन। जब तक भीतर में भयंकर क्रोध का समावेश है तब तक ऐसा होना संभव नहीं है। यदि क्रोध प्रबल है, कषाय प्रबल है तो घर नरक बन जाता है। जब ये सब उपशांत होते हैं तब घर स्वर्ग बन जाता है। जब तक भीतर की ये गांठें नहीं खुलेंगी तब तक सामाजिक संबंधों का सामान्यीकरण, सफल अभियोजन संभव नहीं बन पाएगा इसलिए

मनोविज्ञान को समझने के साथ-साथ आत्मविज्ञान की भूमिका तक जाना जरूरी है।

धार्मिक की कसौटी

प्रश्न है—गांठें कैसे खुले? उसका उपाय क्या है? मार्क्स ने कहा—जहां वर्ग बने हुए हैं, वहां संघर्ष अवश्य होंगे क्योंकि सबके अपने-अपने अलग हित होते हैं और उनमें सामंजस्य करना बड़ा कठिन है। जितना स्वार्थ उतनी ही क्रूरता, जितना लोभ, उतनी ही क्रूरता। जब करुणा की भावना समाप्त हो जाती है तब क्रूरता पनपती है। जिसमें करुणा नहीं है, क्या वह धार्मिक हो सकता है? संवेदना का होना, धार्मिक की पहली कसौटी है। जहां संवेदना को जगाने का प्रश्न है वहां हमारे सामने ध्यान की बात आती है।

ध्यान क्यों?

ध्यान जरूरी है अतीत के बोझ को हल्का करने के लिए, अतीत के संग्रह को कम करने के लिए, गांठों को खोलने के लिए। यदि हम अतीत के बोझ का अनुभव नहीं करते, अतीत के संग्रह का अनुभव नहीं करते तो ध्यान की उपयोगिता हमारी समझ में नहीं आएगी। हम तीन गुप्तियों की साधना करें। मनोगुप्ति, कायगुप्ति और वाक् गुप्ति करें तो अतीत के संग्रह का बोझ हमारे सिर पर नहीं टिक पाएगा। ध्यान करने वाले व्यक्ति के मन में मैत्री और करुणा जागती है। ये सब बातें अप्रवृत्ति में से निकली हुई प्रवृत्ति हैं, जो समाज के लिए बहुत कल्याणकारी होती हैं। इन सारे संदर्भों में हम सोचें—ध्यान क्यों? इसका स्वयं समाधान मिलेगा और वह समाधान होगा-जो भीतर में मैल जमा हुआ है, उसके रेचन के लिए है ध्यान। गांठों को खोलने के लिए है ध्यान। अतीत का बोझ हल्का करने के लिए है ध्यान। □

संकलिका 13

- भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो।
  रागादि विप्पमुक्को, अबंधगो जाणगो णवरि।।
- रागम्हि दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
  तेहिं दु परिणमंतो रागादी बंधदे चेदा।।
  (समयसार – १६७, २८२)
- वाटसन का कथन
- परिस्थिति का मूल्य
- आनुवंशिकी विज्ञान और कर्मवाद
- दो मूल वृत्तियां—
  जीवन मूल प्रवृत्ति : मृत्युमूल प्रवृत्ति
  राग की वृत्ति : द्वेष की वृत्ति
- वृत्ति और बंध
- प्रवृत्ति की प्रेरणा है वृत्ति
- राग द्वेष और मोह से जुड़ा अज्ञान : मिथ्या आचरण
  राग, द्वेष और मोह से विमुक्त ज्ञान : सम्यग् आचरण
- ज्ञान : बंधन
- चैतसिक परिणति के तीन रूप
  वर्धमान
  हीयमान
  अवस्थित
- परिष्कार का मार्ग

मौलिक मनोवृत्तियां

मानसिक चिकित्सा की एक सौ पचास पद्धतियां हैं। उनमें एक है व्यवहारवादी पद्धति। इस पद्धति के अनुसार कोई भी व्यक्ति अच्छा नहीं होता, बुरा नहीं होता। बच्चा जन्म से न अच्छा होता है, न बुरा होता है। उसे जैसा वातावरण मिलता है, जैसी परिस्थिति मिलती है, वह उसके अनुरूप अच्छा या बुरा बन जाता है।

व्यवहारवादी पद्धति का अभिमत

वाटसन ने कहा—यदि मुझे वातावरण पर पूरा अधिकार मिल जाए तो मैं चाहे जैसे व्यक्तित्व का निर्माण कर सकता हूं। यह व्यवहारवादी पद्धति का अभिमत है। यदि हम आत्म-विज्ञान की दृष्टि से विचार करें तो कुछ नई बातें सामने आएंगी। यदि आदमी जन्मना अच्छा या बुरा नहीं होता है तो अतीत के बोझ एवं संग्रह की सारी चर्चा व्यर्थ हो जाएगी, अतीत के साथ हमारा कोई संबंध नहीं रह जाएगा। जैसा वर्तमान का वातावरण, जैस वर्तमान की परिस्थिति, वैसी हमारी मिर्मिति। यदि ऐसा व्यक्तित्व अस्तित्व में आ जाए, जो अच्छा या बुरा कुछ भी नहीं हो तो दुनियां का एक बड़ा आश्चर्य हो जाए किन्तु ऐसा होता नहीं है। परिस्थितियां उद्दीपन कर सकती हैं, वातावरण निमित्त बन सकता है किन्तु मूल कारण के अभाव में उनका प्रभाव नहीं होता।

निमित्त : मूल कारण

उद्दीपन और निमित्त का होना एक बात है और मूल कारण का होना बिल्कुल दूसरी बात है। यदि मूल कारण ही नहीं है तो किसका उद्दीपन होगा? किसका वातावरण होगा? इस स्थिति में आत्मा के अस्तित्व का प्रश्न भी पैदा हो जाएगा। आत्मा का अपना कर्तृत्व भी कुछ नहीं रह पाएगा। व्यक्ति के हाथ में कुछ भी नहीं है, न आत्मा, न आत्मा का कर्तृत्व, सब कुछ परिस्थिति के हाथ में है।

सांख्य दर्शन में आत्मा को मानते हुए भी यह माना गया—सारा बंध

और मोक्ष प्रकृति में होता है। आत्मा बिल्कुल शुद्ध, बुद्ध और मुक्त रहता है। यदि सांख्य-दर्शन की इस बात को स्वीकार करें तो वाटसन की बात केवल भौतिक जगत् पर लागू होगी; आत्मा पर लागू नहीं होगी। यदि हम आत्मा को परिणामी मानें तो वाटसन की बात समझ में नहीं आती। यदि हमारा कुछ भी नहीं है तो हम परिस्थिति के हाथ की कठपुतली मात्र हैं। जैसी परिस्थितियां मिलीं, हम वैसे ही बन गए इसीलिए हमारा अपना कोई अस्तित्व नहीं है। यह बात समझ से परे है।

आनुवंशिकी विज्ञान की स्वीकृति

बिना वृत्ति का कोई आदमी नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति में अच्छी या बुरी कोई न कोई वृत्ति जन्मना अवश्य मिलेगी। प्रत्येक आदमी अपनी वृत्तियों के साथ जन्म लेता है। आज के आनुवंशिकी विज्ञान (जेनेटिक साइंस) में यही बात कही जाती है--प्रत्येक व्यक्ति अपने पैतृक संस्कारों के साथ जन्म लेता है, गुणसूत्र और जीन के साथ जन्म लेता है। पैतृक गुणों की स्वीकृति वर्तमान विज्ञान दे रहा है। यदि हम कर्म-सिद्धान्त के आधार पर चलें तो इससे आगे की बात स्वीकृत हो जाएगी, अतीत की स्वीकृति हो जाएगी।

यह बात प्रामाणिक लगती है कि जो व्यक्ति जन्म लेता है, वह अच्छाई या बुराई के बीजों के साथ जन्म लेता है। अपनी थाती, अपनी धरोहर, अपनी विरासत, अपनी पैतृक संपत्ति को साथ लेकर आता है और उसके साथ अपने जीवन का प्रारंभ करता है।

जीवन मूलप्रवृत्ति : मृत्यु मूलप्रवृत्ति

यह सचाई है—अच्छाई और बुराई—दोनों की वृत्तियां प्रत्येक व्यक्ति के साथ रहती हैं। वृत्तिया दो ही हैं—एक अच्छाई की और एक बुराई की। इसे इस भाषा में भी कहा जा सकता है— एक है राग की वृत्ति और एक है द्वेष की वृत्ति। मनोविज्ञान में वृत्तियों का जो विस्तार किया गया है, वह सापेक्ष बात है। अपेक्षा के साथ वृत्तियों के चाहे जितने प्रकार किये जा सकते हैं। फ्रायड ने बहुत विश्लेषण के बाद अपनी विश्लेषणवादी पद्धति में बतलाया—वास्तव में दो ही वृत्तियां हैं जीवनमूलक प्रवृत्ति और मृत्युमूलक प्रवृत्ति। शेष सब इन दोनों का विस्तार है। भूख, सेक्स, प्यास आदि आदि जीवन-मूलक प्रवृत्तियां हैं। संघर्ष, झगड़ा, कलह आदि आदि मृत्यु-मूलक प्रवृत्तियों में समाविष्ट हो जाते हैं।

बंध होता है राग भाव से

मौलिक प्रवृत्तियां हैं—जीविताशंसा और मरणाशंसा। हम कर्मशास्त्र की दृष्टि से विचार करें तो वृत्तियां दो ही हैं—राग की वृत्ति और द्वेष की वृत्ति। इनका चाहे जितना विस्तार किया जा सकता है। वृत्ति के अठारह भेद भी किये जा सकते हैं, इससे अधिक भेद भी हो सकते हैं। यह सारा वर्गीकरण अपेक्षा के आधार पर होता है। दूसरी भाषा में कहें तो मूल मनोवृत्तियां दो हैं—प्रियता और अप्रियता की मनोवृत्ति। समयसार में कहा गया—राग से कृत जो भाव है, उसके द्वारा जीव बंध करता है। जो भाव राग आदि से विमुक्त है, वह बंधकारक नहीं है।

भावो रागादिजुदो, जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो ।
रागादि विप्पमुक्को, अबंधगो जाणगो णवरि ।।

वृत्ति है बंध

प्रश्न है—वृत्तियां कैसे बनती हैं? एक है आश्रव और एक है बंध। राग और द्वेष की वृत्तियां निर्मित हैं। मोहनीय कर्म उनके साथ में जुड़ा हुआ है, आश्रव से उसे पोषण मिलता रहता है और व्यक्ति बंधता चला जाता है। वास्तव में वृत्ति है बंध और वह है रागात्मक परिणति, द्वेषात्मक परिणति। बंध दो प्रकार का होता है—राग से हुआ बंध और द्वेष से हुआ बंध। आश्रव के कारण इनको निरंतर पोषण मिलता रहता है, संचय होता रहता है, वृत्तियां निर्मित होती रहती हैं। हमारे जितने प्रभावित व्यवहार हैं, वे सारे इन वृत्तियों के कारण होते हैं।

रागम्हि दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा ।
तेहिं दु परिणमंतो रागादी बंधदे चेदा ।।

प्रवृत्ति की प्रेरणा

वृत्ति से होती है प्रवृत्ति। यदि राग और द्वेष न हो तो हमारी प्रवृत्तियां कितनी सीमित हो जाएं! एक आदमी बहुत प्रवृत्ति करता है। प्रश्न होता है—उसकी प्रेरणा कहां से आती है? वृत्तियां प्रेरणाएं हैं। उनके आधार पर होती हैं रागात्मक और द्वेषात्मक प्रवृत्तियां। जब जब राग और द्वेष तीव्र बनता है, आदमी की बुद्धि बदल जाती है, दिमाग खराब हो जाता है। जब भाव राग, द्वेष और मोह के संपर्क से अज्ञानमय बनता है तब आदमी मिथ्या आचरण करता है। जब उसका भाव राग, द्वेष और मोह से विलग होता है तब आचरण सम्यग् होता है।

सम्यग् चारित्र और मिथ्या चारित्र—इन दोनों के पीछे मूल कारण है

ज्ञान और अज्ञान। वह अज्ञान, जो राग; द्वेष और मोह से जुड़ा होता है, हमारा मिथ्या आचरण बनता है। वह ज्ञान, जो राग, द्वेष और मोह से पृथक् होता है, हमारा सम्यग् आचरण बनता है। सम्यग् आचरण के लिये ज्ञान और दृष्टिकोण का सम्यग् होना अत्यंत अनिवार्य है। उनका सम्यग् होना निर्भर है राग, द्वेष और मोह की कमी पर।

ज्ञान भी बंधन का हेतु है

प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि वह कोई बुरा आचरण न करे पर उससे बुरा आचरण हो जाता है। प्रश्न है—ऐसा क्यों होता है? यह एक बड़ा प्रश्न है। आचार्य कुन्दकुन्द के इसका अच्छा समाधान दिया है। उन्होंने कहा—जघन्य ज्ञान की स्थिति मे ज्ञान भी बंधकारक बन जाता है। प्रश्न हो सकता है—अज्ञान बंध का हेतु बन सकता है पर ज्ञान बंध का हेतु कैसे बन सकता है? यदि हम गहराई में जाएं तो यह बात सम्यग् प्रतीत होती है। जघन्य ज्ञान और जघन्य चारित्र का मतलब है क्षायोपशमिक ज्ञान और क्षायोपशमिक चारित्र। जब तक क्षायिक ज्ञान और क्षायिक चारित्र नहीं है, वीतराग का चारित्र नही है तब तक क्षायोपशमिक ज्ञान और चारित्र की स्थिति बनी रहती है। इस स्थिति में व्यक्ति की भावधारा एक जैसी नही रहती, उसका विपरिणमन हो जाता है। जब क्षायिक भाव आता है, क्षायिक ज्ञान और क्षायिक चारित्र आता है, तब एक जैसी परिणाम-धारा प्रवाहित होती है।

चैतसिक परिणति के तीन रूप

हमारी चैतसिक परिणति के तीन रूप बनते हैं—वर्धमान, हीयमान और अवस्थित। जब तक ज्ञान जघन्य है, चारित्र जघन्य है तब तक हीयमान और वर्धमान की स्थिति निरन्तर बनी रहती है। हम इसे टाल नहीं सकते। इस स्थिति में अडचास मिनट तक ही एक जैसी परिणाम-धारा में रहा जा सकता है। उसके बाद स्थिति बदलने लग जाती है। शायद इसीलिए सामायिक का काल भी अड़चास मिनट का रखा गया है। वास्तव में ध्यान और सामायिक—दो नहीं हैं। सामायिक को क्रियाकाण्ड का रूप दे दिया गया इसलिए ध्यान की बात को अलग से सोचना पड़ता है। ध्यान में भी अड़चास मिनट बाद परिणाम धारा बदल जाती है। जब जब राग की परिणाम धारा आती है, जघन्य ज्ञान होने के कारण बध होने लग जाता है। यही कारण है कि आरंभिक स्थिति में बार-बार राग-द्वेष के विकल्प आते रहते हैं, बंध होता रहता है। इस

अपेक्षा से जघन्य ज्ञान और जघन्य चारित्र को बंध का हेतु माना गया है। जब-जब बंध होता है, हमारी वृत्तियों को पोषण मिलता है।

हम कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से विचार करें। कर्म के जितने बंध, कर्म का जितना अस्तित्व हमारे भीतर है उतनी ही वृत्तियां और संस्कारों के केन्द्र हमारे मस्तिष्क में हैं। कर्म का जो स्पंदन आता है, वह मस्तिष्क को प्रभावित कर देता है, वृत्तियों का निर्माण होता रहता है। उन वृत्तियों को दो मूल वृत्तियों में भी समेटा जा सकता है और अपेक्षा के साथ विस्तार भी किया जा सकता है।

परिष्कार का मार्ग

हम राग-द्वेष के परिष्कार के लिए ध्यान करते हैं पर एक साथ इनका परिष्कार करना बड़ा कठिन है। निरन्तर परिष्कार की प्रक्रिया चलती रहे, यह आवश्यक है। हम इस बात को जानते हैं—वृत्तियां हैं, आश्रव हैं, उन्हें पोषण मिल रहा है। उसे कम कैसे करें, बंद कैसे करें? इसका मार्ग है संवर। पोषण मिलने के माध्यम हैं, शरीर, वाणी और मन। हम इन तीनों को बंद करें। हम कायोत्सर्ग करें, इससे शरीर की स्थिरता बढ़ेगी, बंध कम होने लगेगा, वृत्तियों को पोषण मिलना बंद हो जायेगा। हम मौन का अभ्यास करें। वाणी का संयम होगा, वृत्तियों को पोषण देने वाला दूसरा मार्ग बंद हो जायेगा। हम मनोगुप्ति करें, ज्योति केन्द्र पर ध्यान करें। इससे मन एकाग्र होगा, मन का संवरण हो जायेगा। वृत्ति को पोषण देने वाला तीसरा मार्ग भी बंद हो जायेगा। शरीर, वाणी और मन—इन तीनों रास्तों के बंद होने से वृत्तियों को पोषण मिलना बंद हो जाता है, वृत्तियों के स्रोत सूखने लग जाते हैं और उनका परिष्कार घटित हो जाता है। □

संकलिका 14

- आऊदएण जीवदि जीवो, एवं भणंति सव्वण्हू।
  आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीविदं कदं तेसिं।।
- आऊदएण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
  आउं च ण दिंति तुहं कहं णु ते जीविदं कदं तेहिं।।
- जो मण्णदि हिंसामि हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
  सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो।।
- जो मण्णदि जीवेमि य, जिविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
  सो मूढो अण्णाणी, णाणी एत्तो दु विवरीदो।।
- आउक्खयएण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
  आउ ण हरेसि तुमं कह ते मरण कदं तेसिं।।
- आउक्खयएण मरण जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
  आउं ण हरंति तुह कह ते मरणं कद तेहिं।।
  (समयसार - २४७ - २५२)
- जीव जीवे ते दया नहीं, मरे ते हिंसा मत जाण।
  मारणवाला ने हिंसा कही, नहीं मारे ते दया गुण खाण।।
- दो दृष्टिकोण
  आध्यात्मिक
  भौतिक
- जीवन-मरण का संदर्भ—
  लौकिक दृष्टिकोण — उसने मुझे मार दिया
  आध्यात्मिक दृष्टिकोण— आयुष्य कर्म के क्षय होने पर मृत्यु
- वृत्ति परिवर्तन : आशंसा का चक्र

वृत्ति परिष्कार का दृष्टिकोण

परिवर्तन का सूत्र

परिवर्तन का पहला सूत्र है दृष्टिकोण को बदलना। जब तक दृष्टिकोण नहीं बदलता तब तक कुछ भी नहीं बदलता। जब तक दृष्टिकोण आध्यात्मिक नहीं होता तब तक एक प्रकार का चिन्तन, एक प्रकार का व्यवहार और एक प्रकार की क्रिया चलती है। जब दृष्टिकोण आध्यात्मिक होता है, चिन्तन, क्रिया और व्यवहार दूसरे प्रकार का हो जाता है। एक है आध्यात्मिक दृष्टिकोण और एक है मूर्च्छा का दृष्टिकोण, भौतिक या पदार्थवादी दृष्टिकोण। भौतिक दृष्टिकोण से प्रभावित चिन्तन और निष्कर्ष बिलकुल भिन्न होते हैं।

हम राग और द्वेष—दोनों वृत्तियों की चर्चा करें, फ्रायड की भाषा में जीवन मूलक वृत्ति और मृत्यु मूलक वृत्ति की चर्चा करें। जब तक जीवन और मरण के प्रति हमारा दृष्टिकोण आध्यात्मिक नहीं होता तब तक कुछ भी नही बदल सकता। हम सबसे पहले जीवन और मरण के प्रति अपना दृष्टिकोण आध्यात्मिक बनाएं। जीवन राग पैदा करता है और मृत्यु द्वेष पैदा करती है। जीवन के आधार पर राग के पौधे को सिंचन मिलता है। मृत्यु के आधार पर द्वेष के पौधे को सिंचन मिलता है। जब तक यह सिंचन मिलता रहेगा, वृत्तियां पनपती रहेंगी, हम मूर्च्छा का जीवन जीते रहेंगे।

कुन्दकुन्द की भाषा

दृष्टिकोण आध्यात्मिक बनाए बिना आध्यात्मिक जीवन नहीं जीया जा सकता। सामान्य दृष्टिकोण है—प्रत्येक आदमी जीवन जीना चाहता है, दूसरों को भी जिलाना चाहता है लेकिन यह आध्यात्मिक दृष्टिकोण नहीं है। जब दृष्टिकोण आध्यात्मिक बनता है, एक नई सचाई सामने आती है—न मैं दूसरों को जिलाता हूं और न दूसरे मुझे जिलाते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में जो ऐसा नहीं सोचता, वह मूढ़ और अज्ञानी है। कुन्दकुन्द ने तर्क की भाषा में समझाया—आदमी अपने

आयुष्य के आधार पर जीता है। आप दूसरों को जिलाते हैं, इसका अर्थ है आप अपना आयुष्य उसे देते हैं। यदि आदमी अपना कर्म दूसरे को देने लग जाए या अपना कर्म दूसरे को दिया जा सके तो उसका अपना कुछ भी नहीं रह पाए। कोई भी व्यक्ति किसी व्यक्ति को अपना आयु-कर्म नहीं देता। व्यक्ति अपने आयुष्य कर्म के उदय से जीता है इसलिए दूसरे उसे जिलाते हैं या वह दूसरों को जिलाता है, यह बात कैसे सम्भव हो सकती है?

आऊदयेण जीवदि जीवो, एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च णं देसि तुमं कहं तए जीविदं कदं तेसिं ।।
आऊदयेण जीवदि जीवो, एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण दिंति तुहं, कहं णु ते जीविदं कदं तेहिं ।।

जीवन का हेतु

रुपये-पैसे का विनिमय हो सकता है, वस्त्रों का विनिमय हो सकता है पर क्या कर्म का भी विनिमय हो सकता है? यदि हम किसी को अपना आयुष्य दें तो कह सकते हैं—हमने अमुक व्यक्ति को जिलाया है। सचाई यह है कि प्रत्येक आदमी अपने आयुष्य के बल पर जीता है, वह दूसरों के आयुष्य के आधार पर कभी नहीं जीता। यह है आध्यात्मिक दृष्टिकोण। जब यह सचाई समझ में आती है, हमारा जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदल जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा—जो यह मानता है—मैं दूसरों को जिलाता हूं या दूसरे मुझे जिलाते हैं, मैं दूसरों को मारता हूं या दूसरे मुझे मारते हैं, वह मूढ़ और अज्ञानी है। जो व्यक्ति यह मानता है—मैं अपनी आयु के बल पर जीता हूं, वह सम्यगुदर्शी और ज्ञानी है।

जो मण्णदि हिंसयामि य हिंसिज्जामि य परेहिं ।
से मूढ़ो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ।।
जो मण्णदि जीवेमि य, जिविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढ़ो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ।।

व्यक्ति स्वयं उत्तरदायी है

यह सामान्य आदमी की समझ से परे की बात है किन्तु जब हम आध्यात्मिक निष्कर्षों पर पहुंचते हैं तब लौकिक दृष्टिकोण से बिलकुल भिन्न बात होती है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण है—आदमी अपना कर्म करता है, अपने कर्म को भोगता है। दूसरा कोई व्यक्ति उसमें हाथ नहीं बंटाता—'अत्तकडे दुःखे' दुःख आत्मकृत है, वह परकृत और उभयकृत

नहीं है। हम इस सचाई को समझें—मैं जो कर्म करता हूं, उसका उत्तरदायी मैं ही हूं। मेरा किया हुआ कर्म मुझे ही भुगतना होगा। यह सचाई समझ में आती है तो हमारा सारा दृष्टिकोण बदल जाता है। जीवन के प्रति अध्यात्म का यह दृष्टिकोण बन जाए तो निष्कर्ष ही बदल जाएगा, आदमी दूसरे पर कोई आरोपण नहीं करेगा।

अध्यात्म की भाषा

जीवन के संदर्भ में यह बात कठिनता से समझ में आती है। मृत्यु के संदर्भ में भी व्यक्ति यही सोचता है—उसने मुझे मार दिया। यह लौकिक दृष्टिकोण है। जब हम अध्यात्म की भाषा में सोचेंगे, हमारा दृष्टिकोण बदल जायेगा। अध्यात्म की भाषा है—कोई भी आदमी मरता है तो वह अपनी आयु के क्षय होने से मरता है। कौन किसको मारने वाला है? क्या किसी के मारने से कोई मरता है? जिसकी आयु क्षीण नहीं है, वह किसी के मारने से नहीं मरेगा। जब भयंकर भूकंप आते हैं, लोग दब जाते हैं, हजारों लोग मरते हैं लेकिन कुछ लोग, जो नीचे दबे हुए होते हैं, पांच-सात दिन बाद भी जीवित बच जाते हैं। ऐसा क्यों होता है? हम तर्क की भाषा में कहते हैं, उनकी उम्र लम्बी थी इसलिए वे बच गए। यह सारा खेल है आयुष्य का। जब तक आयुष्य क्षीण नहीं होता तब तक कोई किसी को मार नहीं सकता। यह चिन्तन—'मैं किसी को मारता हूं या मुझे कोई मारता है' मूढ़तापूर्ण चिन्तन है। सच यह है—मैं किसी को मार नहीं सकता और दूसरा मुझे मार नहीं सकता, निमित्त बन सकता है। समयसार में कहा गया है—जीव आयु के क्षय होने पर मरण को प्राप्त होता है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है। दूसरा तुम्हारे आयुष्य का हरण कैसे कर सकता है और तुम दूसरों के आयुष्य का हरण कैसे कर सकते हो?

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं ण हरेसि तुमं कहं ते मरणं कदं तेसिं ।।
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं ण हरंति तुहं कहं ते मरणं कदं तेहिं ।।

उपादान क्या है ?

जीवन और मरण के प्रति यह आध्यात्मिक दृष्टिकोण है। जब तक दृष्टिकोण राग-द्वेष से प्रभावित होता है, अहंकार और लोभ से प्रभावित होता है तब तक हमारे चिन्तन और निष्कर्ष एक प्रकार के होते हैं। जब

हमारा दृष्टिकोण इनसे अप्रभावित होता है, चिन्तन की सारी धारा बदल जाती है। जब तक जीवन के प्रति आकांक्षा का दृष्टिकोण रहेगा, निमित्त को मूल मानने का दृष्टिकोण रहेगा, तब-तक हम सत्य के साथ न्याय नहीं कर पाएंगे।

प्रश्न है—हम जीते हैं, उसका उपादान क्या है? निमित्त अनेक हो सकते हैं। हम रोटी खाते हैं इसलिए जीते हैं। हवा, पानी लेते हैं इसलिए जीते हैं। ये निमित्त हैं, उपादान नहीं। उपादान आयुष्य कर्म ही है। यदि आदमी का आयुष्य पूरा हो जाए तो उसे कौन जिला सकता है? क्या विश्व के बड़े-बड़े डॉक्टर और बहुमूल्य दवाइयां उसे जिला देंगी? यदि इस प्रकार कोई आदमी बच पाता तो अमीर आदमी कभी मरता ही नहीं। गरीब आदमी जरूर मर जाते पर करोड़पति और लखपति आदमी अमर हो जाते। सचाई यह है—जब प्राणशक्ति समाप्त हो जाती है तब कोई शक्ति किसी को जिला नहीं सकती।

उपादान को बदलें

हम जीवन और मरण के उपादान को समझें। हम लोग निमित्तों में उलझ जाते हैं। निमित्तों का कुछ मूल्य जरूर होता है पर सब कुछ निमित्तों को ही मान लेना हमारी अज्ञानता है। हम पहले उपादान को देखें। यदि हम वृत्तियों को बदलना चाहें और मूल कारण का स्पर्श न करें तो उनमें परिवर्तन कभी संभव नहीं है। आजकल वैज्ञानिक ऐसी खोज में लगे हैं, जिनके द्वारा आदमी की वृत्तियां बदल दी जाएं पर जब तक दवा का असर रहेगा तब तक ही परिवर्तन टिक पायेगा। ज्योंही दवा का असर समाप्त होगा फिर वही हालत बन जाएगी। जब तक हम मूल आधार को प्रकंपित नहीं करेंगे, मूल कारण का परिष्कार नहीं करेंगे तब तक परिवर्तन की बात संभव नहीं हो पाएगी।

आचार्य भिक्षु का कथन

आचार्य भिक्षु ने बहुत सुन्दर बात लिखी है—

जीव जीवै ते दया नहीं, मरै तो हिंसा मत जाण ।
मारण वाला ने हिंसा कही, नहीं मारै ते दया गुण खाण ।।

कोई जीव जीता है, यह दया नहीं है। कोई जीव मरता है, यह हिंसा नहीं है। हिंसा है मारना। दया है नहीं मारना।

कोई जिलाने में निमित्त बन सकता है तो कोई मारने में निमित्त बन

सकता है लेकिन किसी का जीना या मरना उसके आयुष्य पर निर्भर है। प्रश्न है उपादान का। उपादान बदला या नहीं बदला? यदि उपादान नहीं बदला तो जिलाने से क्या होगा? मारने से क्या होगा? हम निमित्त के आधार पर ही सारे निष्कर्ष न निकालें। यदि हम उपादान पर ध्यान नहीं देंगे तो वृत्ति परिष्कार की बात कभी भी समझ में नहीं आएगी। वृत्तियों को बदलने के लिए उपादान को बदलना जरूरी है। जहां मूर्च्छा पैदा हो रही है, राग, द्वेष, मोह और लोभ पैदा हो रहे हैं, वहां ध्यान केन्द्रित करना होगा। महावीर ने मुनि के लिए विधान किया—वह न जीने की आशंसा करे, न मरने की आशंसा करे, न मौत से डरे। जब तक जीवन की आशंसा नहीं मिटेगी, मौत का भय नहीं मिटेगा तब तक वृत्ति परिवर्तन की बात साकार नहीं होगी।

वृत्ति परिष्कार का सूत्र

वृत्ति परिवर्तन के लिए आशंसा के चक्र को तोड़ना जरूरी है। ध्यान करने का अर्थ क्या है? क्या श्वास को देखना है? शरीर को देखना है? श्वास और शरीर एक आलम्बन है। ध्यान में देखना यह है कि हमारी पूरी चेतना श्वास पर लगी रहे, न राग का विकल्प आए, न द्वेष का विकल्प आए। राग और द्वेष के विकल्पों से बचने के लिए श्वास का आलम्बन लिया जाता है। जब तक राग और द्वेष का विकल्प नहीं बदलेगा तब तक वृत्तियां नहीं बदलेंगी। प्रेक्षा का मतलब यही है—हमारी चेतना केवल शुद्ध आलम्बन पर टिके, उसके साथ राग द्वेष का कोई विकल्प नहीं उठे। प्रेक्षा करने का अर्थ है—हमने वृत्तियों की जड़ पर प्रहार करना शुरू कर दिया है। जब उन्हें पोषण मिलना बंद हो जाता है तब वे कब तक टिक सकती हैं? वृत्तियों के परिवर्तन और परिष्कार का सूत्र है राग द्वेष के उपादान से मुक्त रहकर जीना। इतनी सी बात समझ में आ जाए तो वृत्ति परिष्कार का सूत्र हमारे हाथ में आ जाए। □

संकलिका 15

- अहमेदं एदमहं अहमेदस्स म्हि अत्थि मम एदं।
  अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा।।
- आसि मम पुव्वमेदं एदस्स अहं पि आसि पुव्व हि।
  होहिदि पुणो ममेदं एदस्स अहंपि होस्सामि।।
- एयं तु असब्भूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो
  भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो।।

(समयसार – २० – २२)

- कारण: प्रत्येक कार्य की पृष्ठभूमि में
- अर्थ पर्याय : सहज परिणमन
- हिंसा एक कार्य है
- कारण है राग
- हिंसा क्यों होती है?
- राग की उपज है द्वेष
- लड़ाई की प्रेरणा है राग
- धर्म के लिए भी राग
- राग के हेतु–
  शरीर, परिवार, धन आदि
- मिथ्या अवधारणा
- चोट कहां करें
- पहला प्रहार राग की जड़ पर
- भेद विज्ञान की भूमिका का स्पर्श करें।

हिंसा का मूल क्या है?

मैं प्रवचन करने के लिये प्रवचन हॉल में आया। मैंने बहुत लोगों को देखा, उनकी प्रवृत्तियों को देखा। कोई रूमाल संभाल रहा था, कोई कापी-पेन को संभाल रहा था। मेरे मन में प्रश्न उठा—इसका कारण क्या है? करने वालों ने कारण पर ध्यान नहीं दिया। ये सब इतनी सहज प्रवृत्तियां हैं कि कारण पर ध्यान देने की जरूरत ही महसूस नहीं होती लेकिन इनके पीछे कोई कारण नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता। यदि हम विश्लेषण करें तो प्रत्येक प्रवृत्ति के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य मिलेगा। व्यक्ति मुंह पोंछने के लिए रूमाल संभाल रहा था। कापी और पेन संभाल रहा था प्रवचन में आने वाली नई बात को नोट करने के लिए। प्रत्येक प्रवृत्ति का कोई न कोई कारण अवश्य था। जितने आदमी हैं, जितनी प्रवृत्तियां हैं, उनके पीछे उतने ही कारण हैं।

कारण का संबंध

हमारी स्थूल प्रवृत्तियों के साथ कारण जुड़ा हुआ है। कुछ कार्य ऐसे भी होते हैं, जिनके पीछे कोई कारण नहीं होता। जो सहज परिणमन होता है, उसके पीछे कोई कारण नहीं होता। अर्थ पर्याय के पीछे कोई कारण नहीं होता। जितने व्यक्त होने वाले पर्याय हैं, स्थूल पर्याय हैं, उनके पीछे कारण होता है। हम निरन्तर कारण की ओर ध्यान नहीं देते किन्तु कारण होता अवश्य है। अभ्यास इतना सध जाता है कि सहज भाव से सारा कार्य हो जाता है। यही होता है हमारा कंडीशनिंग माइंड। एक आदत बन जाती है और अपने आप काम होता चला जाता है किन्तु यदि हम उसके कारण पर विचार करें तो कारण उपलब्ध हो सकता है।

हिंसा का कारण

इस कार्य-कारण सिद्धान्त के आधार पर जब हम हिंसा, अनैतिकता, अप्रमाणिकता, असत्य आदि-आदि आचरणों और व्यवहारों पर विचार करते हैं तो कुछ नई बातें सामने आती है। हिंसा करने वाला कभी कारण

की ओर ध्यान नहीं देता। हिंसा एक कार्य है। उसके पीछे कारण भी है। हिंसा से दूर वही व्यक्ति रह सकता है, जो हिंसा के कारण के प्रति जागरूक होता है। प्रश्न है— हिंसा का कारण क्या है? हम स्थूल दृष्टि से, लौकिक भावना से विचार करें तो हिंसा के बहुत सारे कारण प्रस्तुत हो जाएंगे। प्रश्नव्याकरण और आचारांग सूत्र में उनका वर्गीकरण भी मिलता है। आदमी रोजी-रोटी के लिए हिंसा करता है। पैसा कमाने के साधनों के लिए हिंसा करता है। शरीर को सुन्दर बनाने के लिए हिंसा करता है। ऐसे अनेक कारण हैं। कस्तूरी को पाने के लिए कस्तूरी मृगों को मार देता है। बढ़िया चमड़े के लिए बाघ को मार देता है, अनेक पशुओं का वध कर देता है। दांत के लिए हाथियों को मार देता है पर ये सब हिंसा के मूल कारण नहीं हैं।

मूल कारण है राग

हिंसा का मूल कारण है राग। आदमी राग के कारण हिंसा करता है। द्वेष हिंसा का मूल कारण नहीं है। एक चोर हिंसा करता है, एक आतंककारी हिंसा करता है। एक डकैत हिंसा करता है। ये सब द्वेष के कारण हिंसा नहीं करते। एक सैनिक हिंसा करता है, वह द्वेष के कारण नहीं करता क्योंकि उसकी अपनी कोई दुश्मनी नहीं है। इसे समझने के लिए हमें गहराई में जाना होगा। यह संस्कार बन गया है — मन में द्वेष और घृणा होती है तो आदमी हिंसा करता है। लेकिन ये मूल कारण नहीं हैं। एक आदमी मिलावट करता है। उससे हजारों आदमी पक्षाघात के शिकार हो जाते हैं। क्या उनसे उसका द्वेष था? कोई द्वेष नहीं था। मिलावट का कारण है — राग। मैं धनी बनूं, बड़ा आदमी बनूं, धन का ढेर लग जाए, मैं चाहे जैसा कर सकूं, भीतर में यह जो राग है, वही मिलावट करा रहा है, मनुष्य को अनैतिक बना रहा है, हिंसा करा रहा है।

राग की उपज है द्वेष

मूल में द्वेष नहीं है। द्वेष राग की ही उपज है। यदि अपने शरीर के प्रति, परिवार के प्रति राग का भाव न हो तो द्वेष पैदा ही नहीं होगा। एक को बचाना है तो दूसरे के साथ द्वेष करना होगा। अपने राष्ट्र से प्रेम है तो दूसरे राष्ट्र से द्वेष करना होगा। व्यक्तिगत कोई द्वेष नहीं है।

यदि हम इस मूल कारण को समझें तो बात बहुत साफ हो जाती है। आज सारे संसार में आतंकवाद का चक्र चल रहा है। कारण क्या है?

उसका कारण घृणा नहीं है। घृणा के आधार पर हिंसा नहीं चल सकती। द्वेष के आधार पर कोई लड़ाई नहीं लड़ी जा सकती। जब तक सैनिकों के मन में राष्ट्र प्रेम पैदा नहीं करेंगे, लड़ाई नहीं लड़ी जाएगी। यह प्रशिक्षण दिया जाता है– राष्ट्र के लिए बलिदान देना सबसे बड़ा धर्म है।

जिते च लभ्यते लक्ष्मीः मृते चापि सुरांगना।
क्षणभंगुरको देह, का चिंता मरणे रणे।।

अनैतिकता का कारण

' जब इस प्रकार का अनुराग पैदा किया जाता है तब कहीं आदमी प्राण देता है। किसी भी काम को करने के लिए सबसे बड़ी प्रेरणा है उसके प्रति राग पैदा करना। धर्म को चलाने के लिए भी देव और गुरु के प्रति राग पैदा करना पड़ता है।

इस सारे संदर्भ में हम विचार करें–हिंसा का मूल कारण क्या है? मिलावट और अनैतिकता का मूल कारण क्या है? आचार्यश्री ने अणुव्रत आंदोलन शुरू किया, उसे प्रारंभ हुए ४० वर्ष हो गए। बहुत प्रयत्न किया गया कि हमारे देश से भ्रष्टाचार, अनैतिकता, अप्रामाणिकता, मिलावट आदि मिटे पर ऐसा लगता है कि वे मिट नहीं रहे हैं। कारण स्पष्ट है–जब तक यह राग की बात समझ में नहीं आएगी तब तक इन सबका मिटना संभव नहीं बन पाएगा।

राग का हेतु

राग को बढ़ाने का सबसे बड़ा हेतु है अपना शरीर। यहीं से राग शुरू होता है। दूसरा हेतु है परिवार। अगर अपने या अपने परिवार के प्रति राग न हो तो व्यक्ति दूसरों को धोखा नहीं देगा। जब यह बात समझ में आती है तब एक प्रश्न उभरता है–राग को पकड़े कैसे? कौन-सी ऐसी साधना करें, जिससे राग कम हो? कायोत्सर्ग का जो प्रयोग है, वह केवल शिथिलीकरण का ही प्रयोग नहीं है। वह राग की जड़ पर प्रहार करने का प्रयोग है। जब तक भेद विज्ञान का अनुभव नहीं होगा, हमारा राग कम नहीं होगा। 'आत्मा अलग है, शरीर अलग है,' यह बात समझ में आएगी तभी राग की जड़ पर प्रहार हो पाएगा। सारा राग शरीर और आत्मा को एक मान लेने से होता है।

भेद विज्ञान का प्रयोग

आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा–पर द्रव्य को जो अपना स्वरूप मानता है

और यह सोचता है—मैं यह हूं, यह द्रव्य मुझ स्वरूप है, मैं इसका हूं: यह मेरा है। यह पहले भी मेरा था, भविष्य में भी यह मेरा होगा—ऐसा आत्म विकल्प करने वाला व्यक्ति मूढ और अज्ञानी है।

अहमेदं एदमहं अहमेदस्स म्हि अत्थि मम एदं।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा।।
आसि मम पुव्वमेदं एदस्स अहंपि आसि पुव्वं हि।
होहिदि पुणो ममेदं एदस्स अहंपि होस्सामि।।
एयं तु असब्भूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि तु असंमूढो।।

शरीर और आत्मा को एक मान लेना मूढ़ता है, अज्ञान है। इसी बिन्दु पर प्रेक्षाध्यान और विपश्यना के भेद को समझा जा सकता है। प्रेक्षाध्यान की आधारभित्ति है आत्मवाद। जो व्यक्ति आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं, प्रेक्षाध्यान उनके काम का नहीं है। कायोत्सर्ग मूलतः भेद विज्ञान का प्रयोग है। जिस दिन हमारी यह स्पष्ट धारणा होगी – 'आत्मा अलग है और शरीर अलग है' उसी दिन राग की जड़ पर पहला प्रहार होगा।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

अनेक बार पूछा जाता है कि पहला प्रहार कहां किया जाए? यह बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। एक धनी आदमी कार से जा रहा था। रास्ते में कार खराब हो गई। वह एक मिस्त्री के पास गया, उसे बुलाकर लाया। मिस्त्री ने कार को देखकर कहा – सौ रुपये लूंगा, कार ठीक कर दूंगा। मालिक ने उसे सौ रुपये दे दिए। मिस्त्री ने एक स्थान पर एक हथौड़ी से चोट की और कार स्टार्ट हो गई। कार के मालिक ने कहा— तुमने न्याय नही किया। एक हथौड़ी की चोट के सौ रुपये? मिस्त्री बोला – महाशय! चोट का केवल एक रुपया ही है। चोट कहां करनी है, इस बात के हैं निन्यानवें रुपए।

महावीर का संकल्प

हमारे सामने राग की विकट समस्या है। उसी के कारण हिंसा, चोरी संग्रह, असत्य, क्रोध आदि-आदि पैदा हो रहे हैं। प्रश्न है – उस मूल समस्या को पकड़ने के लिए पहली चोट कहां पर की जाए? महावीर ने इस समस्या का समाधान दिया – शरीर का व्युत्सर्ग करो। शरीर का

त्याग करो। यही साधना का पहला सूत्र है। जब महावीर दीक्षित हुए तब उन्होंने संकल्प लिया — मैं सिद्धों को नमस्कार कर आज से सर्व सावद्ययोग का प्रत्याख्यान करता हूं। महावीर ने संकल्प लिया — मैं शरीर का व्युत्सर्ग करके, त्याग करके विहार करूंगा। कायोत्सर्ग से साधना शुरू हुई और कायोत्सर्ग में ही साधना समाप्त हुई। जहां कायोत्सर्ग है वहां राग की जड़ कमजोर हो जाएगी। जब तक हम इस बात को नहीं समझेंगे तब तक न व्रत की बात समझ में आएगी, न अध्यात्म और धर्म की बात समझ में आ सकेगी। जब तक शरीर का मोह, परिवार का मोह और रागात्मक भाव है तब तक अनैतिकता, भ्रष्टाचार आदि प्रवृत्तियां कभी समाप्त नहीं होंगी।

राग पर चोट करें

हम इस सचाई को पकड़े-कायोत्सर्ग किए बिना मूल जड़ पर प्रहार नहीं होगा। कायोत्सर्ग करने वाले एवं कराने वाले व्यक्ति को यह ध्यान रखना चाहिए — कायोत्सर्ग केवल शिथिलता तक ही सीमित नहीं रहे बल्कि वह भेद विज्ञान की भूमिका का स्पर्श करे। उस स्थिति में ही राग पर चोट होगी। जब राग पर चोट होनी शुरू होगी तब कायोत्सर्ग बढ़ेगा। उसकी निष्पत्ति होगी — हम अपने पोषण के लिए दूसरे का शोषण नहीं कर सकेंगे, किसी का गला नहीं घोट सकेंगे।

प्रेक्षाध्यान जीवन का दर्शन है, आध्यात्मिक साधना की प्रक्रिया है। आध्यात्म शुरू होता है कायोत्सर्ग से। कायोत्सर्ग पर विशेष ध्यान देकर ही हम मूल कारण को पकड़ सकेंगे। जब काया से उपजने वाला राग कम होने लगेगा, समस्याओं का समाधान स्वतः मिल जाएगा। यह रागभाव ज्यों-ज्यों कम होगा, चेतना का रूपान्तरण होता चला जाएगा, इन सारी बुराइयों का उद्भव असंभव हो जाएगा □

संकलिका 16

- अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
  जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।
- जीवस्स णत्थि वण्णो, ण वि गंधो ण रसो ण वि य फासो।
  ण वि रूवं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहणणं।।
  (समयसार – ४९, ५०)
- आत्मा का स्वरूप : इन्द्रियों की सीमा
- चेतना की दिशा बदले
- तर्क शास्त्र की भाषा
- इन्द्रियों के साथ चेतना न जुड़े
- देखें,राग द्वेष न करें
- ज्ञाता-द्रष्टाभाव का अर्थ
- अंतर्मुखता का मार्ग
- आकर्षण कम कैसे हो
- मूर्च्छा केन्द्र निष्क्रिय बने
- अंतर्यात्रा : आत्म दर्शन का प्रयोग

आत्मा को कैसे देखें?

प्रेक्षाध्यान का ध्येय सूत्र है — आत्मा के द्वारा आत्मा को देखें। यह बड़ी विरोधाभासी बात लगती है। आत्मा है अमूर्त और हमारे पास शक्ति है इन्द्रियों की। इस स्थिति में हम देखें कैसे? यह एक प्रश्न है। प्रश्न यह भी है — हम ध्यान कर रहे हैं या विरोधाभास को पाल रहे हैं। जो हम कह रहे हैं, वह केवल तोता रटंत है या उसकी कोई सार्थकता है। क्या हमारे पास ऐसी कोई विधि है, जिसके द्वारा हम आत्मा को देख सकते हैं?

आत्मा का स्वरूप

आत्मा का स्वरूप है अशब्द, अगंध, अरस और अरूप, जिसमें न कोई शब्द है, न कोई गंध है, न कोई रस है और न कोई स्पर्श है। वह केवल ज्ञान और चैतन्यमय सत्ता है।

अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।
जीवस्स णत्थि वण्णो ण वि गंधो ण रसो ण वि य फासो।
ण वि रूवं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहणणं।।

हमारी इन्द्रियां जानती है शब्द को, रूप को, गंध, रस और स्पर्श को और हमारी आत्मा है अशब्दात्मक, अरूपात्मक। हम उसे कैसे देखें? इस प्रश्न का समाधान भी उपलब्ध होता है— हम उन क्षणों का अनुभव करें, जिन क्षणों में अरूप बन जाएं। आंख खुली है, रूप को देख रहे हैं। आंख बंद की, रूप दिखना बंद हो गया। कान भी बंद किया, अशब्द हो गया। नाक को बंद किया, अगंध हो गया। जीभ पर कुछ भी नहीं डाला, अरस हो गया। किसी को छुआ नहीं, अकेले में रहे, अस्पर्श योग हो गया।

चेतना को विशद बनाएं

प्रश्न उभरता है — क्या ऐसी स्थिति किसी के लिए भी संभव है? यह

कैसे संभव है कि व्यक्ति पांचों इन्द्रियों के दरवाजे बंद कर दे और बाह्य जगत् से संपर्क विच्छिन्न कर जी सके? कुछ क्षणों के लिए यह संभव हो सकता है पर जीवन भर के लिए संभव नहीं है। अध्यात्म के आचार्यों ने इस समस्या का भी उपाय खोजा। पहला उपाय यह है — इन्द्रियों के दरवाजों को कुछ समय के लिए बंद रखें। कुछ समय के लिए आंखे बंद रहे, एक घंटा ध्यान में बिताएं, अरूप की स्थिति का अनुभव होगा, सारे रूप समाप्त हो जाएंगे। यह अरूप की अनुभूति आत्मा की अनुभूति है। इसके साथ चेतना जुड़ी हुई है और चेतना की अनुभूति भी।

प्रश्न होता है — एक घंटा इस स्थिति में रहने से क्या होगा? आखिर उसी दुनिया में जाना है, जिसमें दृश्य और रूप ही रूप हैं। उपाय खोजा गया — आंख बंद करना ही जरूरी नहीं है, आंख खुली रखो और अरूप रहो। कान खुला रहेगा, फिर भी अशब्द रहोगे। खाना जीभ पर आएगा, फिर भी अरस रहोगे। स्पर्श होगा पर अस्पर्श रहोगे। यह सब कैसे संभव है? यह संभव होता है चेतना की दिशा को बदलने से। ध्यान एक ऐसी प्रक्रिया है, जो चेतना की दिशा को बदल देती है।

चेतना न जुड़े

इन्द्रियों से चेतना को न जुड़ने दें। यदि यह बात समझ में आ जाए तो दिशा परिवर्तन का रहस्य उपलब्ध हो जाए। यदि चेतना इन्द्रियों के साथ नहीं जुड़ेगी तो इन्द्रिय विषयों का ग्रहण नहीं होगा। तर्कशास्त्र की भाषा में यह अनध्यवसाय है। एक व्यक्ति बाजार गया। उसे सोना खरीदना है। बाजार में हजारों दुकानें हैं, उनमें हजारों-हजारों प्रकार की वस्तुएं उपलब्ध हैं। व्यक्ति उन सबको देखता चला जाता है। वह सोने की दुकान पर सोना देखता है, उसे खरीद लेता है। सोने के सिवाय भी उसने अनेक वस्तुओं को देखा लेकिन वह देखना न देखने जैसा रहा। जिसके साथ अध्यवसाय जुड़ा, उसे देखा; और सब अनदेखा रह गया है।

अंतर्मुखता

हम पदार्थ के साथ उतनी ही चेतना जोड़े जितना उस वस्तु को जानने के लिए अपेक्षित है। उसके साथ मूर्च्छा की चेतना को न जोड़ें। इस स्थिति में आंख के सामने कोई सुन्दर रूप आ जाए अथवा जीभ पर कोई स्वादिष्ट मिष्ठान्न आ जाए, वह हमारे लिए कोई महत्त्व नहीं रखेगा। हम अरूप और अरस की स्थिति में बने रहेंगे। आचारांग सूत्र में कहा गया— रूप न देखें, शब्द न सुनें, यह संभव नहीं है। संभव यह है — रूप

देखें पर उसके प्रति राग-द्वेष न करें। न खाना हमारे लिए संभव नहीं है पर यह संभव है – जो खाएं, उसके प्रति राग-द्वेष न करें। हम ऐसी साधना करें, जिससे ज्ञान-ज्ञान रहे, उसके साथ जो मोह जुड़ता है, उसे अलग कर दें, उसका पृथक्करण कर दें। इसी का नाम है अंतर्मुखता। इसका तात्पर्य है – इन्द्रियां अपना काम करेगी पर मूर्च्छा साथ में नहीं रहेगी। बड़े शहरों में सीवरेज की व्यवस्था होती है। पानी का नाला और मल का नाला – दोनों साथ-साथ चलते हैं। कभी-कभी सीवरेज व्यवस्था गड़बड़ा जाती है, जल और मल का मिश्रण हो जाता है। यह गड़बड़ जन-स्वास्थ्य के लिए खतरा बन जाती है। हम जल-मल का मिश्रण न होने दें। जल का नाला अलग चले और मल का नाला अलग चले। इसी का नाम साधना है, ध्यान और अध्यात्म है। इसी के आधार पर हम आत्म-दर्शन की स्थिति में आते हैं।

उपभोग करें, राग द्वेष नहीं

हम ज्ञाताभाव – द्रष्टा भाव की बात करते हैं पर इसका मतलब क्या है? इसका अर्थ यही है कि हम इन्द्रियों के साथ चेतना को न जोड़ें। मैं खा रहा हूं, फिर भी अरस बना हुआ हूं, मैं देख रहा हूं फिर भी अरूप बना हुआ हूं, इसका नाम है ज्ञाता-द्रष्टा भाव। हमारी यह चेतना जागे। अभ्यास के द्वारा इस चेतना को जगाना संभव है। इन्द्रियों को चौबीस घंटे बंद रखना संभव नहीं है। यदि खिड़कियों और दरवाजों को चौबीस घंटे बंद रखेंगे तो प्रकाश कहां से आएगा? इन्द्रियों की उपलब्धि कर्म के क्षयोपशम से होती है। हम इन्हें बंद क्यों करें। हम वह अभ्यास करें, जिससे हम इन्द्रियों का उपभोग मात्र करें, उसके साथ राग-द्वेष न जुड़े। प्रश्न है – अभ्यास कैसे करें? खाएं और रस न आए, यह कैसे संभव है? क्या इसमें छलना और प्रवंचना नहीं है? अंतर्मुखता की दिशा में प्रस्थान करने वाला व्यक्ति इस स्थिति में पहुंच सकता है। उसके लिए यह स्थिति सहज संभव बन जाती है।

मार्ग है अंतर्यात्रा

जो व्यक्ति अंतर्मुख होना चाहता है, उसके लिये सबसे पहला प्रयोग है अन्तर्यात्रा का। हम चेतना को नीचे से ऊपर की ओर ले जाएं। जब तक चेतना नाभि के आस-पास घूमेगी, हम ज्ञाता-द्रष्टा नहीं बन सकेंगे अरूप और अरस की स्थिति की अनुभूति नहीं कर पाएंगे। अनेक लोग

पूछते हैं -- मैं कौन हूं? उनसे मैं कहता हूं -- यह प्रश्न पूछो कि मैं कहां हूं? मेरी चेतना कहां है? यदि हमारी चेतना नाभि से नीचे है तो वह ज्यादा खतरनाक है। अंतर्मुखता का अर्थ है -- चेतना को नीचे से ऊपर ले जाना, बाहर से भीतर ले जाना, पदार्थों से निकाल कर अपने स्वरूप में अवस्थित कर देना। इस स्थिति की उपलब्धि का मार्ग है अंतर्यात्रा, सुषुम्ना की यात्रा। यह भीतर जाने का रास्ता है। जब तक हमारी चेतना इस मध्य मार्ग से ऊपर नहीं जाएगी तब तक हमारा बाहरी आकर्षण कम नहीं होगा।

संवेदना केन्द्र को निष्क्रिय बनाएं

प्रश्न है संवेदना केन्द्र को निष्क्रिय बनाने का। पैर में कांटा चुभा। दर्द किसके हुआ? क्या पैर को दर्द हुआ? पैर में कांटा चुभा, इसका संदेश जब तक मस्तिष्क तक नहीं पहुंचता तब तक पीड़ा का अनुभव नहीं हो सकता। संवेदन केन्द्र तक सूचना पहुंच जाती है, तब पीड़ा की अनुभूति होती है। एनेस्थेसिया का प्रयोग क्या है? किसी व्यक्ति का ऑपरेशन करना है। उसे मूर्च्छित कर दिया जाता है। उसे दर्द का पता नहीं चलता। यही बात मूर्च्छा की है। जब मूर्च्छा का केन्द्र सक्रिय बनता है, व्यक्ति राग-द्वेष से भर जाता है। अंतर्यात्रा का प्रयोग मूर्च्छा के केन्द्र को निष्क्रिय बनाने का प्रयोग है। जब मूर्च्छा केन्द्र निष्क्रिय बन जाता है, तब कोरा ज्ञान रहता है, पदार्थ या घटना के साथ मूर्च्छा की चेतना नहीं जुड़ती।

भीतरी सुख का अनुभव करें

अंतर्यात्रा चेतना को ऊपर ले जाने का प्रयोग है। यह प्रयोग जितना अच्छा सधेगा, इन्द्रियां अपना काम करेंगी किन्तु उनके साथ राग-द्वेष का जुड़ना बंद हो जायेगा।

अंतर्यात्रा का यह प्रयोग आत्म-दर्शन का प्रयोग है, ज्ञाता-द्रष्टा बनने का प्रयोग है। जरूरी है अभ्यास का नैरन्तर्य। जब हमारी चेतना ऊपर जाती है, वाइटल एनर्जी ऊपर जाती है तब इतने सुखद प्रकंपन पैदा होते हैं, जिनकी कल्पना नहीं की जा सकती। यह निश्चित है-- जब तक भीतर का सुख नहीं प्रगटेगा तब तक बाह्य सुख छूट नहीं पाएगा। हमें उस सुख की अनुभूति करना है, जिससे बाह्य सुख को त्यागने वाली चेतना प्रगट हो जाए। इसका मार्ग है अंतर्यात्रा। यदि हम इस प्रयोग-पथ को अपना सके तो 'आत्मा के द्वारा आत्मा को देखें', यह सूत्र विरोधाभासी नहीं रहेगा, यथार्थ बन जाएगा। □

संकलिका 17

- जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिदसुहिदे करेदि सत्ते ति।
  सो मूढो अण्णाणी, णाणी एत्तो दु विवरीदो।।
- एसा दु जा मदी दे, दुक्खिदसुहिदे करेदि सत्ते ति।
  एसा दे मूढमदी, सुहासुहं बंधदे कम्मं।।

(समयसार – २५३, २६०)

- सुख दुःख का संदर्भ
- सम्यग् आचरण का आधार
- मिथ्या दृष्टिकोण–
  दूसरा दुःखी या सुखी बनाता है।
- सम्यग् दृष्टिकोण
  सुख दुःख का कर्ता मैं स्वय हूं
- दुःख का मूल है चंचलता
- चंचलता से जुड़ी स्थितियां–
  दुःख
  दौर्मनस्य
  अगमेजयत्व
  श्वास- प्रश्वास
- दुःख की स्थिति : दुःख का अनुभव
- ध्यान का प्रयोग क्यों?
- स्वदर्शन का अर्थ : अपने भाग्य की डोर अपने हाथ में थाम लेना।

अपने भाग्य की डोर अपने हाथ में

प्राचीन समय की बात है। एक बिरदावली गाने वाला चारण किसी सेठ के घर पहुंचा। उसने सेठ की बिरदावली गाई। सेठ बहुत खुश हुआ। चारण ने सोचा, आज बहुत धन मिलेगा। सेठ ने चारण को पुरस्कार में एक रुपया दिया। चारण ने कहा— यह क्या? इतनी कंजूसी? सेठ ने जवाब दिया— मेरा नियम है कि जब किसी को दान देना होता है तब दाढ़ी पर हाथ फेरता हूं और जितने केश हाथ में आ जाते हैं उतने रुपए दे देता हूं। चारण बोला— सेठजी! मेरे भाग्य का निर्णय मुझे ही करने दें, आप हाथ मत फेरें।

बाधा है मिथ्या धारणा

हम लोग भी अपने भाग्य का निर्णय दूसरों पर छोड़ देते हैं, अपने आप अपने भाग्य का निर्णय नहीं करते। हम अपने भाग्य की डोर अपने हाथ में थामकर नहीं रखते, उसे दूसरों के भरोसे छोड़ देते हैं। सुख और दु:ख का संदर्भ लें। वास्तव में सुखी या दु:खी होना व्यक्ति के अपने हाथ में है। दूसरा व्यक्ति निमित्त बन सकता है। एक डाक्टर भी निमित्त बन सकता है, एक धनवान भी निमित्त बन सकता है लेकिन वह किसी को सुखी या दु:खी बना नहीं सकता। निमित्त निमित्त है, उससे ज्यादा उसके हाथ में कोई शक्ति नहीं है। अपने भाग्य की डोर अपने हाथ में तभी रह सकती है जब मिथ्या धारणाएं बदल जाएं। व्यक्ति जब तक मिथ्या धारणाओं को पालता रहता है तब तक वह अपने भाग्य की डोर को पकड़ नहीं पाता।

संदर्भ सुख दु:ख का

एक मिथ्या धारणा है— मैं किसी को सुखी बनाता हूं मैं किसी को दु:खी बनाता हूं। आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा— जो यह मानता है कि मैं जीवों को सुखी या दु:खी करता हूं, वह मूढ है, अज्ञानी है।

जो अप्पणा दु मण्णदि, दुक्खिदसुहिदे करेदि सत्ते ति।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो।।

आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा—मैं जीवों को सुखी या दु:खी करता हूं,यह तुम्हारी जो मति है, यह मूढ मति है। इससे शुभ अशुभ कर्म का बंध होता है।

एसा दु जा मदी दे दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेति।
एसा दे मूढ़मदी सुहासुहं बंधदे कम्मं।।

दूसरा मात्र निमित्त है

सुख और दु:ख के संदर्भ में यह एक मिथ्या अवधारणा है। जब यह मिथ्या धारणा मिटती है तब व्यक्ति सचमुच अपने भाग्य की ओर अपने हाथ में थाम लेता है। जब तक यह धारणा बनी रहती हैं तब तक अपना भाग्य दूसरों के भरोसे रहता है। इस स्थिति में आत्म विश्वास या आत्म कर्त्तव्य की बात समाप्त हो जाती है। इस दुनिया में दूसरे के भरोसे बैठने से खतरनाक कोई काम नहीं है। व्यक्ति तब अच्छा आचरण करता है जब वह यह जानता है— मेरे आचरण का फल मुझे मिलेगा। रोगी स्वयं सावधान है तो डाक्टर का सहारा मिल सकता है। वह स्वयं ही सावधान नहीं है तो डाक्टर क्या करेगा? जब तक यह सम्यग् दृष्टिकोण नहीं बनेगा— वास्तव में सुख दु:ख का कर्त्ता मैं स्वयं हूं, दूसरा व्यक्ति निमित्त मात्र बन सकता है तब तक अपने भाग्य की डोर अपने हाथ में नहीं आ पाएगी।

उपादान स्वयं है

हम इस बात पर विमर्श करें — सुख दु:ख का उपादान कौन है? क्या व्यक्ति स्वयं उपादान नहीं है? जब उपादान से हटकर निमित्तों पर हमारी धारणा अटक जाती है तब दृष्टिकोण मिथ्या बनता है। जिस व्यक्ति का दृष्टिकोण मिथ्या होता है, उसके दु:ख को भगवान भी नहीं मिटा सकता। ध्यान का अर्थ है— हम उन सचाइयों तक पहुंचें, जहां तक सामान्य आदमी पहुंच नहीं सकता। वहां तक पहुंचने में बहुत आवरण हैं, अनेक गत्यवरोधक हैं। सामान्य आदमी उन्हें पार नहीं कर सकता। सामान्य व्यक्ति सुख दु:ख का आरोपण दूसरे पर करता है लेकिन एक साधक का दृष्टिकोण इससे भिन्न होना चाहिए।

दु:ख का मूल

इस प्रश्न पर अध्यात्म के आचार्यों ने भी गंभीर विचार किया।

अध्यात्मविदों ने कहा – दुःख का मूल है चंचलता। महर्षि पतंजलि ने भी इसी सचाई को अभिव्यक्ति दी– दुःखदौर्मनस्यअंगमेजयत्व श्वास- प्रश्वासाः विक्षेपसहभुवः। मन की चंचलता के साथ इतनी सारी स्थितियां जुड़ी हुई हैं। यदि चंचलता नहीं है तो दुःख का अनुभव नहीं होगा। व्यक्ति दुःख की स्थिति से दुःखी नहीं होता किन्तु दुःख का पता चलने पर दुःखी होता है। जिसका मन शान्त हो गया, जिसकी चंचलता अत्यल्प हो गई, वह दुःख का पता चलने पर भी दुःखी नहीं होता। इस स्थिति में व्यक्ति घटना को जान लेता है, भोगता नहीं। वह दुःख की अनुभूति से परे चला जाता है।

असाधारण घटना : असाधारण सहिष्णुता

सरदारशहर के एक संभ्रांत नागरिक हुए हैं श्री सुमेरमलजी दुगड़। उनके युवा पुत्र का आकस्मिक देहावसान हो गया। वह पुत्र भी ऐसा था, जो किसी भाग्यवान् को ही मिलता है। उसके निधन पर पूरा शहर रोया, हजारों लोगों की आंखें नम हो गईं। पूरे समाज के उत्थान की बात सोचने वाले व्यक्ति का चले जाना साधारण घटना नहीं थी। अपने ऐसे युवा पुत्र की मृत्यु के क्षणों में भी पिता की आंखों में आंसू नहीं थे। लोगों ने कहा– सेठ साहब! आपका होनहार लड़का चला गया। श्री सुमेरमलजी दुगड़ बोले– भाई! इतना ही योग था। आने का नियम है तो जाने का भी नियम है। वह आया था तब मुझे पूछकर नहीं आया था और गया तब भी बिना कहे ही चला गया। सामान्य व्यक्ति कह सकता है– वह कैसा पिता, पुत्र की मृत्यु हो जाने पर भी जिसकी आंखों में आंसू न हो। हम इसके कारण की खोज करें। दुःख की भयंकर स्थिति होने पर भी दुःख का अनुभव क्यों नहीं हुआ? कारण यही है– मन की चंचलता इतनी कम हो गई, मन इतना शान्त हो गया कि घटना, नियम और सचाई को जान लिया किन्तु उसे भोगा नहीं।

जितना विक्षेप : उतना दुःख

यह निश्चित है– जितना जितना मन का विक्षेप ज्यादा होगा उतना उतना दुःख ज्यादा होगा। जितना जितना मन का विक्षेप कम होगा उतना उतना दुःख कम होगा। हम इस धारणा को बदलें कि दुविधा व दुःख की स्थिति होने मात्र से दुःख होता है। वस्तुतः दुःख होता है मन की चंचलता से। जितनी चंचलता है उतना दुःख है। यदि चंचलता नहीं है तो दुःख भी नहीं हो सकता।

तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु का जीवन कठिनाइयों से भरा हुआ जीवन था। पांच वर्ष तक उन्हें पूरा खाने को भी नहीं मिला। किसी व्यक्ति ने आचार्य भिक्षु से पूछा— महाराज! घी,गुड़ कभी गोचरी में आता है? आचार्य भिक्षु ने उत्तर दिया— पाली के बाजार में बिकता हुआ देखता हूं। जिस व्यक्ति ने मन को इतना साध लिया फिर दुःख कहां से आएगा? श्री मज्जयाचार्य ने उस समय की स्थिति का मार्मिक चित्रण किया है—

पांच वर्ष लग पेख, अन्न् पिण पूरो ना मिल्यो।
बहुलपणै संपेख, घी चौपड़ तो किहां रह्यो।।

वर्तमान भाषा

हजारों-हजारों साधकों को ऐसे कितने दुःख झेलने पड़े हैं लेकिन क्या किसी साधक को कोई दुःखी बना पाया? साधनाशील साधक दुःख आने पर भी दुःखी नहीं बनता। हम इस बात का गहराई से अनुभव करें कि दुःख होना निर्भर करता है हमारी चंचलता पर। ध्यान का प्रयोग इसलिए कराया जाता है कि मन की चंचलता को कम किया जा सके। जितनी मन की चंचलता कम होगी उतना ही शान्ति का जीवन जी सकेंगे। आज की भाषा में कहा जा सकता है— जितना मन का तनाव है उतना ही दुःख है। बहुत सारे लोग अकारण दुःखी बनते हैं। यह डिप्रेशन क्या है? मानसिक अवसाद क्या है? कोई कारण सामने नहीं है फिर भी बैठे-बैठे दुःख उतर आता है। जब मन की चंचलता बढ़ती है, अहेतु ही दुःख उतर आता है।

विक्षेप का परिणाम

दुःख का प्रमुख कारण है विक्षेप। जितना वैमनस्य चलता है, परस्पर अनबन और खटपट चलती है वह विक्षेप के कारण ही चलती है। यदि मन का विक्षेप न हो तो कलह और खटपट की समस्या उत्पन्न ही नहीं हो पाए। किसी व्यक्ति ने कड़वी बात कह दी। यदि मन शान्त है तो वह बात कलह या खटपट की स्थिति पैदा नहीं करेगी। यदि मन चंचल है तो व्यक्ति मन में गांठ बाध लेगा। वह सोचेगा— जब तक मैं इसका बदला नहीं ले लूंगा तब तक चैन से नहीं बैठूंगा। इस दौर्मनस्यता कारण है मन की चंचलता।

शरीर की चंचलता भी मन की चंचलता से जुड़ी हुई है। शरीर की चंचलता का मन की चंचलता के साथ गहरा संबंध है। श्वास-प्रश्वास

का संबंध भी चंचलता के साथ जुड़ा हुआ है। यदि मन चंचल है तो श्वास-प्रश्वास की संख्या बढ़ती चली जाएगी। आज एक अमेरिकन और यूरोपियन व्यक्ति सामान्यतः पच्चीस-तीस श्वास लेता है। इसका कारण चंचलता का ज्यादा होना है।

समस्या मुक्ति का सूत्र

समस्या से मुक्ति का सूत्र है— चंचलता में कमी आए। समस्या यह है— हम चंचलता को मिटाने का प्रयत्न नहीं करते, समस्या के इस भीतरी कारण पर ध्यान नहीं देते। हमारा सारा ध्यान बाहरी निमित्तों को हटाने में लगा हुआ है। हमारी शक्ति निमित्तों को दूर करने में लगी हुई है। जब तक व्यक्ति ध्यान की अवस्था में नहीं जाएगा, अपने भीतर में नहीं झांकेगा तब तक उसका ध्यान केवल बाहर ही बाहर अटका रहेगा। ध्यान को जीवन का दर्शन कहा गया है। वह इसलिए किया जाता है कि सारी धारणाएं बदल जाएं। कोई घटना घटे तो हमारा चिन्तन बने— इसमें मेरा अपना क्या है? मेरी भूल कहां है? मैं क्या कर सकता हूं? यदि हमारा चिंतन इस दिशा में प्रवाहित हो तो समस्या की गंभीरता स्वतः ही कम हो जाए। कठिनाई यह है कि हमारा दृष्टिकोण बदला नहीं है। हम स्वयं का दृष्टिकोण नहीं बदलते, दूसरों का दृष्टिकोण बदलना चाहते हैं। इससे हमारी आध्यात्मिक दृष्टि नहीं जागती। सबसे बड़ी बीमारी है केवल पर ही पर को देखना। स्व को नहीं देखना। जब तक स्व को देखने का दृष्टिकोण विकसित नहीं होगा तब तक मानसिक एवं भावात्मक स्वास्थ्य का सूत्र उपलब्ध नहीं होगा। आचार्य कुन्दकुन्द ने स्व दर्शन का जो महत्त्व प्रतिपादित किया है, उसे स्व दर्शन की साधना के प्रति समर्पित होकर ही समझा जा सकता है, स्व दर्शन की साधना का अर्थ है अपने भाग्य की डोर को अपने हाथ में थाम लेना, दुःख और समस्या की मूल जड़ पर प्रहार करना। □